मेरी जीवन-धारा

यशपाल जैन

मेरी जीवन-धारा

मानवीय मूल्यों की उपासना की
सुपाठ्य तथा प्रेरक कहानी

•
यशपाल जैन
•
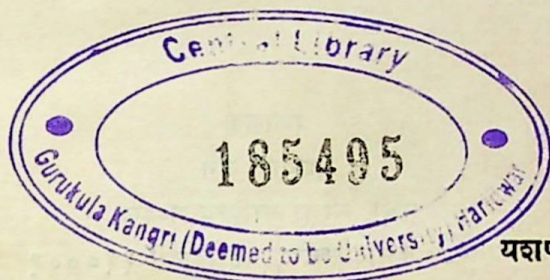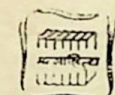
१९८७

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११०००१

●

पहली बार : १९८७
मूल्य : रु० १५.००

●

मुद्रक
कंवल किशोर एण्ड कम्पनी
लखेरवाल प्रेस
नई दिल्ली

उन पथिकों को
जीवन-यात्रा में जिनके पैर
कभी डगमगाये नहीं हैं।

—**यशपाल जैन**

प्रकाशकीय

'मण्डल' से अबतक कई आत्म-कथाएं प्रकाशित हुई हैं। उनमें महात्मा गांधी की आत्म-कथा (मेरे सत्य के प्रयोग), डा० राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्म-कथा' तथा पं० जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। गांधीजी की आत्म-कथा जहां मानव-जीवन की मार्ग-दर्शिका है, वहां अन्य दो आत्म-कथाओं में भारत के महान नेताओं की जीवन-गाथा के साथ-साथ भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का बड़ा ही प्रेरणा-दायक इतिहास है।

प्रस्तुत पुस्तक उससे भिन्न है। इसमें लेखक के जीवन की विधिवत कहानी नहीं है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति बड़ा हो या छोटा, उसे अपने सामने एक ऊंचा ध्येय रखना चाहिए और अपने प्रत्येक कार्य में उस ध्येय को आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। जिनके जीवन में आदर्श का समावेश नहीं होता, वे व्यक्ति भटकते हैं।

इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी तथा प्रेरक सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। हमें आशा है कि जो भी इसे पढ़ेंगे, उन्हें लाभ ही होगा।

—**मंत्री**

दो शब्द

मेरी बहत्तरवीं वर्षगांठ पर एक अभिनन्दन-ग्रंथ 'निष्काम-साधक' प्रकाशित हुआ था। उसके प्रधान सम्पादक स्व० बनारसीदास चतुर्वेदी थे। उनके आग्रह पर मैंने यह आत्मकथात्मक सामग्री तैयार की थी, जो उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रकाशित हुई थी। अनेक पाठकों ने मुझे लिखा कि उस सामग्री को अलग से पुस्तक के रूप में छपवा देना चाहिए। मैंने उस समय उनके अनुरोध को टाल दिया। अब जबकि मेरे जीवन के ७५ वर्ष पूरे हुए हैं, उन्होंने अपने अनुरोध को दोहराया। उनके आग्रह को मानकर मैंने उस सामग्री में बहुत-से पृष्ठ और जोड़े और अब संशोधित रूप में यह पाठकों को उपलब्ध हो रही है।

मैं मानता हूं कि मेरे जीवन में ऐसी कोई भी महत्वपूर्ण बात नहीं है कि जो पाठकों को समाज या राष्ट्र के क्रांतिकारी इतिहास से जोड़ सके; किन्तु इतना मैं कह सकता हूं कि इसमें जीवन को नैतिक मार्ग पर चलने और मानवीय मूल्यों को अपनाने की एक सहज प्रेरणा है। मनुष्य को अनुभव होना चाहिए कि वह मनुष्य है और यह अनुभूति उसे तभी हो सकती है, जबकि वह नैतिक मार्ग पर अग्रसर हो। गांधीजी ने कहा था कि मेरे लिए वह राजनीति त्याज्य है, जिसमें नीति न हो। यह पुस्तक बताती है कि नीतिविहीन जीवन भी उसी प्रकार त्याज्य होना चाहिए।

पुस्तक में कोई बड़ा दावा नहीं किया गया है। केवल यह दिखाया गया है कि समाज के प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह सत्ताधारी हो या धनपति हो, प्रभावशाली नेता हो या सामान्य जन, नीति के मार्ग को किसी भी हालत में नहीं छोड़ना चाहिए।

इस अवसर पर मुझे दादा बनारसीदासजी चतुर्वेदी का विशेष स्मरण हो रहा है, जिनकी मूल प्रेरणा के कारण इस पुस्तक का सृजन और प्रकाशन सम्भव हो सका। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर मुझे विश्वास है कि वह जहां भी होंगे, इस पुस्तक के प्रकाशन से सन्तोष अनुभव करेंगे।

मैं अपने उन हितैषी बन्धुओं का आभार मानता हूं, जिन्होंने मेरे ऊपर जोर डालकर इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव बनाया। यदि इसे पढ़कर किसी पाठक को कोई प्रेरणा मिली तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

मेरी हार्दिक इच्छा है कि पाठक एक बार इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

७/८, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
१ सितम्बर, १९८७

—यशपाल जैन

अनुक्रम

मेरी
जीवन-धारा

•

१ / बचपन की स्मृतियां

मेरा बाल्यकाल देहात में बीता। इसे मैं बहुत बड़ा वरदान मानता हूं। हमारा देश चंद शहरों में नहीं, लाखों गांवों में बसता है, उसकी कल्पना तो बहुत बाद में हुई; लेकिन ग्रामीण जीवन का जो सुखद चित्र मेरे मन पर उस समय अंकित हुआ, वह कभी धुंधला नहीं पड़ा। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति न मानी जाय कि आज मैं जो कुछ हूं, उसके पीछे बचपन के मेरे संस्कारों का बहुत बड़ा हाथ है। अलीगढ़ जिले का विजयगढ़ कस्बा उन दिनों बहुत छोटा था। उससे सटे बीझलपुर गांव में, जहां मेरा जन्म (१) हुआ था, मुश्किल से पांच-सात सौ घर रहे होंगे, पर उसमें विभिन्न जातियों के लोग थे—ब्राह्मण, वैश्य, मुसलमान, हरिजन आदि-आदि। उनके अतिरिक्त गांव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन धंधों की जरूरत थी, उन धंधों को चलाने वाले भी वहां मौजूद थे। परचूनी की दो-तीन दुकानें थीं, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, धोबी, नाई, धीमर इत्यादि थे। इस विविधता के बीच जबर्दस्त एकता थी। सारा गांव एक विशाल कुटुम्ब की तरह था। यह नहीं कि आपस में कभी टकराहट नहीं होती थी। लड़ाइयां होती थीं; लाठियां तक चलने की नौबत आ जाती थी, लेकिन कुल मिलाकर गांव के लोगों में सौमनस्य था। अमीर-गरीब और ऊंच-नीच का भाव होते हुए भी वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में

---

(१) १ सितम्बर १९१२

काम आते थे, मिलकर पर्व-त्योहार मनाते थे और हारी-बीमारी में कभी किसी को अकेलापन या बेबसी अनुभव नहीं होती थी। हमारा परिवार जैन है, किन्तु हिन्दुओं के सारे व्रत और त्योहार हमारे यहां मनाये जाते थे।

सबके अपने-अपने काम-धंधे थे। दिन भर लोग उनमें व्यस्त रहते थे और शाम को बुजुर्ग लोग हमारे या मुखिया के चबूतरे पर इकट्ठे हो जाते थे। रात को देर-गये तक घर-परिवार से लेकर जाने कहां-कहां तक चर्चाएं होती थीं। यदि गांव में कोई घटना हो जाती थी तो उसका भी सांगोपांग विवेचन हो जाता था। अदालतें थीं, पर उन तक जाने में लोग प्रायः संकोच करते थे, दहशत खाते थे। संगीन-से-संगीन मामला भी बड़े-बूढ़ों की उस बैठक में निबटा दिया जाता था। फैसला करने वालों में पढ़े-लिखे लोग बहुत थोड़े थे, लेकिन उनमें इतनी सहज-बुद्धि थी कि समस्या की तह तक पहुंच जाने में उन्हें कठिनाई नहीं होती थी। फैसले में महीनों या सालों नहीं लगते थे, तत्काल निर्णय दे दिया जाता था।

मेरे पिता उस गांव के पटवारी थे और उनकी जमींदारी थी। पटवारी उन दिनों गांव का राजा होता था, शायद आज भी होता है। इसके अलावा पिताजी का बड़ा रौब था। बड़े दबंग थे। बहुत-से मामले उनके सामने आते रहते थे। मुझे याद है, शाम को और रात को ११-१२ बजे तक का उनका अधिकांश समय अक्सर ऐसे ही मामलों के निबटाने में जाता था।

गांव के घर सादे थे और लोग भी सादे थे। सादगी से रहते थे। उनके जीवन में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था। चीजें सस्ती थीं। थोड़े में गुजर हो जाती थी। बिजली नहीं थी। घरों के बाहर छायादार पेड़ों के नीचे चारपाई डालकर

छोटे-बड़े आराम से बैठते थे और वहीं सो जाते थे।

पुरुषों की भांति स्त्रियों का भी अपना मिलन-स्थल था और वह था पनघट। सवेरे-शाम, बड़े घरों की स्त्रियों को छोड़कर, शेष सब पानी के बर्तन लेकर निकटवर्ती कुंए पर इकट्ठी हो जाती थीं और आपस में घर-बाहर की भली-बुरी सारी बातें कर लेती थीं।

वस्तुत: वह एक खुशगवार दुनिया थी, जिसमें संतोष था और प्यार-मोहब्बत थी। किसी के घर में लड़की का विवाह होता था तो सारा गांव मदद के लिए दौड़ पड़ता था। उस घर की इज्जत सारे गांव की इज्जत होती थी। किसी के यहां ग़मी होती थी तो सारा गांव उसमें शरीक होता था।

यह चित्र आज भी मेरे मानस-पटल पर न केवल गहरा अंकित है, अपितु मुझे प्रेरणा भी देता है। हिन्दू-मुसलमानों में इतना मेल था कि यह पहचान करना कठिन था कि कौन हिन्दू है, कौन मुसलमान है। सब एक-दूसरे को 'चाचा', 'ताऊ' कहकर पुकारते थे। छुआ-छूत थी, हमारे आंगन में जमादार एक खास जगह तक ही आ सकता था, उससे आगे नहीं, नाई हमारे घड़े नहीं छू सकता था, लेकिन उन अछूतों के प्रति सब लोगों में आत्मीयता थी और अछूत लोग भी सवर्णों के प्रति आदर रखते थे।

इस प्रकार मानवीय मूल्यों के बीज मेरे भीतर उसी काल में पड़े और धीरे-धीरे पल्लवित होते गये। आज उन मूल्यों में मेरी जो गहन आस्था है, वह बचपन के संस्कारों का परिणाम है। सादगी का जीवन आज भी मुझे बेहद प्रिय है, और सर्व-धर्म-समभाव को मैं बहुत ऊंचा स्थान देता हूं।

प्रकृति का आजन्म प्रेमी हूं। इसकी प्रेरणा भी मुझे बचपन

से ही मिली। गांव के हरे-भरे खेतों के बीच, मुक्त आकाश के नीचे, बरगद और नीम की घनी छाया में मेरे जीवन के जो वर्ष बीते, वे आज भी मुझे प्रकृति से जोड़े हुए रखते हैं। वही प्रेरणा मुझे खींच कर बार-बार हिमालय(१) में ले गई है और उसी ने अनेक बार मुझसे देश की परिक्रमा कराई है। दिल्ली के कोलाहल-भरे वातावरण से जब मेरा मन ऊब जाता है तो हिमालय मुझे पुकारता है, हिन्द महासागर मुझे आवाज देता है, और मैं वहां जाने के लिए छटपटा उठता हूं। गांव के मधुर चित्र मेरी आंखों के सामने आ जाते हैं।

बचपन की बहुत-सी घटनाएं अब विस्मृत हो गई हैं, फिर भी कुछ घटनाएं आज भी याद हैं। हमलोग बड़े शैतान थे। पढ़ने में मन कम लगता था, खेल-कूद में अधिक। पास के गांव में पढ़ने जाते थे। रास्ते में पगडंडी के इधर-उधर बहुत-से खेत बिछे होते थे। फसल के दिनों में हमारी बाल टोली खूब हरे चने और मटर खाया करती थी। कभी-कभी देर हो जाती तो पाठशाला जाना गोल कर जाते थे और इधर-उधर मटर-गश्ती करके शाम को घर लौट आते थे। उसके लिए कई बार मार भी खानी पड़ती थी, पर चने-मटर के खेतों को देखते ही मन को रोका नहीं जा सकता था।

रास्ते का एक और आकर्षण थी झरबेरी की झाड़ियां। बेरों के मौसम में वे पीले, लाल और हरे बेरों से लद जाती थीं। पाठशाला से लौटते समय हमारा नित्य का काम होता था बस्ता, कलम, दवात और पट्टी को एक ओर पटक कर बेर खाना। कई बार ऐसा होता था कि कोई लड़का चुपचाप

(१) देखें लेखक की १. 'उत्तराखण्ड के पथ पर', २. 'जय अमरनाथ' आदि पुस्तकें और लेख-मालाएं।

दवात उठाकर ले जाता था। घर आकर मैं अम्मा से कह देता कि स्कूल में दवात चोरी हो गई। मां पैसे दे देती और मैं नई दवात खरीद लाता।

जब बहुत बार ऐसा हो गया तो एक बार अम्मा ने खीज-कर कहा, "क्यों रे, तेरे स्कूल में सब चोर ही हैं क्या ? पर तू तो किसी की दवात उठाकर लाता नहीं !"

अम्मा ने यह बात सहज भाव से कही थी, पर मैंने उसका और ही अर्थ लगाया। एक-दो दिन दांव देखता रहा और फिर मौका मिलते ही कई दवातें उड़ा लाया। बड़ी बहादुरी से मां के सामने रखते हुए कहा, "अम्मा, तूने उस दिन कहा था कि तेरे स्कूल में सब चोर ही हैं क्या ? पर तू तो कभी किसी की दवात उठाकर लाता नहीं, सो यह ले, आज इतनी दवातें ले आया हूं !"

मेरा इतना कहना था कि अम्मा ने बड़े जोर से अपने माथे पर हाथ मारा, फिर क्षण भर मेरी ओर देखकर रुंधे गले से बोली, "कम्बखत, मैं नहीं सोचती थी कि तू इतना मूर्ख है कि मेरी बात का यह मतलब लगा लेगा !" इतना कहते-कहते अम्मा की आंखों से आंसू टपकने लगे। अपने बेटे की नालायकी से उन्हें जो दुःख हुआ, वह तो हुआ ही, पर उससे भी अधिक दुःख उन्हें यह सोचकर हुआ कि उन्होंने ऐसी बात कही क्यों ?

मेरे सारे उत्साह पर पानी फिर गया। अम्मा की बात ने और उनके आंसुओं ने मुझे हतप्रभ कर दिया।

थोड़ी देर में अम्मां ने संभलकर कहा, "ये सारी दवातें लेकर तू अभी मुंशीजी (पाठशाला के हैडमास्टर) के पास जा और लौटाकर मांफी मांग कर आ। अगर तेरे चाचाजी (पिता-जी) को मालूम हो गया तो तेरी खाल उधेड़कर रख देंगे।

जा, फौरन जा।"

पिताजी स्वभाव के बड़े उग्र थे। उनसे हम सब भाई कांपते थे। मारे डर के मैंने सारी दवातें उठाईं और मील-डेढ़ मील दौड़कर पाठशाला पहुंचा। संयोग से मुंशीजी मिल गये। उन्हें देखते ही मेरी हिलकी बंध गई। रोते-सुबकते मैंने उन्हें सारी बात कह सुनाई। मुंशीजी भी बड़े सख्त थे। झाऊ की कमची लेकर इतनी मार लगाते थे कि बेहाल कर देते थे। पटवारी का लड़का होते हुए भी अपनी शरारतों के लिए मैंने जाने कितनी बार उनसे मार खाई थी।

पर उस दिन जाने क्या सोचकर मुंशीजी ने मेरी पीठ पर हाथ फिराया और बोले, "कोई बात नहीं है। कभी-कभी बच्चों से गलती हो ही जाती है। आइन्दा ऐसा मत करना।"

पिताजी किसी दूसरे गांव गये थे। मुंशीजी से छुट्टी पाकर मैं डरता-डरता घर आया कि कहीं पिताजी लौट न आये हों, पर मेरी खुशकिस्मती थी कि वह नहीं लौटे थे। अम्मा के पास जाकर मैंने सारी बात कही तो फिर उनकी आंखें भर आईं। बोलीं, "बेटा, अच्छे लड़के ऐसा नहीं करते।"

यह घटना यों देखने में बड़ी सामान्य-सी थी, पर उसका मेरे मन पर इतना असर हुआ कि मैंने अपने जीवन में फिर कभी किसी से बिना पूछे कोई चीज नहीं ली।

एक घटना और है, जिसने मेरे जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला। मेरे पिताजी हुक्का पिया करते थे। बहुत बड़ी फर्शी थी, जिसमें एक लम्बी नगाली थी। ठीक वैसी ही थी, जैसी नवाब लोग इस्तेमाल किया करते थे। मेरा ध्यान फर्शी की ओर कौतूहल-वश गया, फिर मन हुआ कि एक कश खींचकर देखा जाय। एक दिन पिताजी जैसे ही पीकर बाहर गये कि

मैंने नगाली हाथ में लेकर एक कश लगाया। जैसे ही धुंआ पेट में गया कि बुरी हालत हो गई। खांसी आई, आंखें लाल हो गईं, चेहरा तमतमा उठा और उल्टी होने को हुई। अम्मा ने यह सब देखा तो बोलीं, "तुझे हो क्या गया है ? ऐसे काम क्यों करता है ?"

अम्मा की बात मैंने अनसुनी कर दी। उसका डर तो हमें कभी लगा ही नहीं। फर्शी को फिर आजमाया। थोड़ा अनुभव हो गया था, इससे दूसरी बार हालत उतनी नहीं बिगड़ी। फिर तो अम्मा के मना करते-करते एकाध दम लगा ही लेता था। जब अम्मा ने देखा कि मैं नहीं मान रहा हूं तो उसने पिताजी से इसकी शिकायत कर दी। तब पिताजी ने जो किया, वह मेरे लिए अप्रत्याशित तो था ही, उनके स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। स्वयं जांच करने के लिए फर्शी को पीकर खूब तेज किया और बाहर चले गये। मैं तो दांव देख ही रहा था। उनके जाते ही फर्शी पर पहुंच गया और जोर से जो दम लगाया तो फौरन उल्टी हो गई। उसी समय पिताजी आ गये। बोले, "क्या हुआ ?" मुझे काटो तो खून नहीं ! सदा की भांति अम्मा ढाल बनी। कह दिया, "खाने में कुछ ऐसी-वैसी चीज खा गया दीखता है।"

पिताजी ने एक शब्द नहीं कहा। मुझ पर एक निगाह डालकर बाहर चले गये। मेरे खोये प्राण लौट आये। शाम हुई। चबूतरे पर लोगों की भीड़ इकट्ठी हुई। नौकर ने पिताजी के लिए फर्शी लगा दी। पिताजी ने मुझे बुलवाया। मैं बाहर आया। पिताजी ने एक खाली मूंढ़े की ओर संकेत करके कहा, "बैठ जाओ।" डरते-डरते मैं बैठ गया। पिताजी ने फर्शी की नगाली मेरी ओर बढ़ा दी और बोले, "अगर हुक्का पीते

हो तो लो, सबके सामने पीओ। छिपाकर क्यों पीते हो ?"

मन हुआ कि धरती फट जाय तो उसमें समा जाऊं। गांव के बुजुर्गों के सामने यह क्या हुआ? इतना अपमान तो मैंने पहले कभी नहीं सहा था! मेरी हिलकी बंध गई और मैं उठकर अंदर चला गया। वह दिन था कि आज का दिन है, मैंने हुक्का या सिगरेट-बीड़ी छुई तक नहीं। पिताजी की मार से जो बात न होती, वह उनकी होशियारी ने कर डाली। पिताजी के निधन के उपरान्त उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते समय मैंने इस घटना का उल्लेख बड़ी धन्यता अनुभव करते हुए किया था। आज भी वही धन्यता अनुभव हो रही है।

एक घटना का और उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं हो रहा है। यह घटना उस समय की है, जब मैं गांव की पढ़ाई पूरी करके आगे की पढ़ाई के लिए विजयगढ़ चला गया था। मेरे माता-पिता पान और तम्बाकू खाया करते थे। मैंने तम्बाकू तो कभी नहीं खाया, पर पान खूब खाता था। उस समय आज की तरह दांत साफ करने के लिए क्रीम-बुर्श तो थे नहीं, योंही मिट्टी से दांतों को मल लेते थे। नतीजा यह कि दांत पूरी तरह साफ नहीं होते थे, उन पर मैल जम जाता था। मेरे साथ भी वही हो गया था। मेरे दांतों पर मैल जम गया था।

एक दिन स्कूल गया। एक मास्टर मुझे बहुत प्यार करते थे। पढ़ाते-पढ़ाते उन्हें जाने क्या सूझा कि उन्होंने मुझसे कहा, "बेंच पर खड़े हो जाओ।" मेरी कुछ भी समझ में नहीं आया। आखिर मैंने ऐसी क्या गलती की है, जो मुझे यह सजा मिल रही है? पर मास्टरजी के आदेश की अवहेलना करना संभव

नहीं था। बेंच पर खड़ा हो गया। मास्टरजी ने कहा, "दांत-दिखाओ।"

मैंने मुंह खोलकर दांत दिखा दिये। मास्टरजी ने वर्ग के लड़कों को सम्बोधित करते हुए कहा, "जरा इन हजरत के दांत देखो। कितना सुन्दर लड़का है और दांत!"

मारे शर्म के मेरा सिर नीचा हो गया। बड़ा बुरा लगा, पर उन मास्टरजी का मैं आभार माने बिना नहीं रह सकता। इस घटना के बाद मैंने तीन दशक तक पान नहीं छुआ। दिल्ली आने पर वह प्रतिज्ञा टूटी। अब महीनों में किसी ने पान दे दिया तो खा लिया, अन्यथा नहीं।

बीझलपुर के घर का आंगन बहुत बड़ा था। वैसे गांव में और विजयगढ़ में हमारी बहुत-सी खेती थी, पर मैंने शौकिया आंगन में मक्का बोई। लौकी, तोरई, काशीफल आदि पैदा किये। कुछ फूल भी उगाये। हरियाली मन में बस गई। आज भी दिल्ली में जहां रहता हूं, वहां मैंने बहुत-से गमलों और ड्रमों में पारिजात, मल्लिका, रात की रानी, मनीप्लांट आदि लगा रक्खे हैं। बिना हरियाली के जीवन अधूरा-सा लगता है। मुझे याद है, गांव में हमारे घर के ठीक सामने एक बड़ा पेड़ था नीम का। उससे खूब छाया रहती थी। हमने चबूतरे के किनारे नीम का एक पौधा और लगाया। बहुत वर्ष बाद जब मैं अपनी जन्म-भूमि के दर्शन के लालच से गांव गया तो वहां सबकुछ बदल गया था। केवल हमारे लगाए नीम के उस पौधे से, जो अब बड़ा पेड़ हो गया था, मैं अपने घर को पहचान सका।

ये तथा और दूसरी घटनाएं याद आ जाती हैं तो पुराना जमाना आंखों के आगे घूम जाता है। मेरा एकमात्र बेटा

सुधीर कैनेडा में है। मैंने उसे प्रेरित किया कि वह खूब हरियाली के बीच कोठी खरीदे। उसने वही किया। जब मैं वहां गया तो देखा, ठीक वैसी ही कोठी है, जैसी मैं चाहता था। आज भी मेरा मन करता है कि हमारे देश के एक भी नागरिक को ऐसी कालकोठरी में न रहना पड़े, जहां न हवा और धूप पहुंचती हो और न खुला आसमान ही दीखता हो। शहरों में आबादी के जमाव से अधिकांश लोग ऐसा ही जीवन बिताते हैं। उसे देखकर मेरा मन चीत्कार कर उठता है।

हमारे नाना के कोई लड़का नहीं था। वह पहले बरौली की और बाद में बाजगढ़ी की रियासत में दीवान थे। मेरे बड़े भाई और मैं कुछ दिन नाना के साथ रहे। हमारे रहने की कोठी किले के अन्दर ही थी। वहां के जीवन की एक बात याद करके आज हंसी आती है। हमारे नाना, जब वहां दरबार लगता था, तो हमें अचकन, चूड़ीदार पायजामा, गुरगाबी जूता और सेला पहनाकर साथ ले जाते थे। मेरा दम घुटता था। वह सारा वैभव मुझे सुहाता नहीं था।

नाना में स्वाभिमान कूट-कूटकर भरा था। बड़े पुरुषार्थी थे। अनुशासन-प्रिय थे। दो घटनाएं याद आती हैं। रियासत के काम से नाना का अलीगढ़ आना-जाना लगा रहता था। वह जिले का सदर मुकाम था। बरौली या बाजगढ़ी से कुछ दूर नहर की पटरी पर जाना पड़ता था। रास्ते पर फाटक लगा था, जिसके खोलने और बंद करने पर एक आदमी तैनात था। एक बार नाना कार से अलीगढ़ जा रहे थे। बन्द फाटक पर रुक गये। ड्राइवर ने हार्न बजाया, आदमी को आवाज दी। काफी देर हो गई। बाद में वह आया तो ऐसे जैसे चहल-कदमी कर रहा हो। नाना ने उसे बहुत फटकारा। जवाब-तलब किया

कि वह अपनी ड्यूटी पर क्यों नहीं था। इतने से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ तो अलीगढ़ पहुंचकर कलक्टर से बात की और वह सड़क आम जनता के लिए खुलवा दी।

उन दिनों आज की तरह घरों में नल नहीं थे। कहार कुंए से पानी भरकर लाया करता था। एक दिन कहार को आने में देर हो गई। नाना का पारा चढ़ गया। उन्होंने कहा, "अब तो अपने आंगन में कुंआ खुदेगा और हम उसी का पानी पीवेंगे।" फिर क्या था! मजदूर लगा दिये और आंगन में कुंआ खुदने लगा। वहां पानी गहरा नहीं था और मिट्टी भी उतनी सख्त नहीं थी। शाम तक कुंआ खुद गया और उसमें पानी निकल आया। सबने वही पानी पिया। वह कुंआ बहुत समय तक कच्चा ही रहा और हमलोगों के मनोरंजन का प्रमुख साधन बना। उसकी दीवार में हमने इधर-उधर गडढे करवा कर सीढ़ियां जैसी बनवा लीं। नाना के दफ्तर चले जाने पर उनसे हम नीचे उतर जाते और ताजे पानी में स्नान का खूब आनंद लेते।

वह कुंआ आज भी मेरी आंखों में बसा है और प्रेरणा देता है कि आदमी ठान ले तो कोई काम असंभव या कठिन नहीं है।

नाना के स्वाभिमान, पुरुषार्थ और गरिमा से ओत-प्रोत जीवन की बहुत-सो घटनाएं याद आती हैं। नानी के वात्सल्य की स्मृति भी मेरे मन को विभोर कर देती है। जाने-अनजाने बाल-काल में उनसे जो संस्कार प्राप्त हुए, वे आगे चलकर मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हुए।

कुछ समय वहां रहने के बाद हम विजयगढ़ लौट आए। वहां हमारे बहुत-से संबंधी थे। बोम्बलपुर और विजयगढ़ में हमारे बहुत बड़े घर थे। विजयगढ़ में हम और हमारे निकट

के ताऊ और चाचा अपने परिवार के साथ एक ही घर में रहते थे। सबके चूल्हे अलग थे, पर कुटुम्ब एक था। कुछ ही कदम पर हमारे मौसा का घर था और उसी से सटी हमारे फूफा बाबू रूपकिशोर की विशाल हवेली थी। फूफा के पिताजी लाला इन्द्रप्रसाद बहुत बड़े जमींदार थे। उनका और हमारा घराना बड़ा समृद्ध था। बिरादरी में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बीझलपुर की तरह वहां भी हमारे बाग-बगीचे और खेती-बारी थी। असल में हमारा पुश्तैनी घर तो विजयगढ़ में ही था।

स्थान-परिवर्तन के साथ हमारी शैतानियां और बढ़ गईं। मेरी बुआ का लड़का अक्षय कुमार, जो बाद में 'नवभारत टाइम्स' का सम्पादक हुआ, मेरा साथी बन गया। वह मुझसे उम्र में थोड़ा छोटा है, पर उन दिनों की शरारतों में बराबर साथ देता था। उस जमाने में क्रिकेट आदि खेलों का चलन नहीं था। कबड्डी और गिल्ली-डंडा खूब चलते थे। हमलोग कबड्डी में न जाने कितनी बार अपनी टांगें तोड़ते थे और गिल्ली-डंडा से दूसरों की, लेकिन संयोग से आंख या सिर किसी का भी नहीं फूटा।

उन दिनों शरारत के लिए मार पड़ने की कुछ घटनाएं आज तक याद हैं। हमारे मदरसे के पास एक रास्ता था, जिससे अधिकांश लड़के आया-जाया करते थे। एक दिन मैं और मेरे कुछ साथी उसी रास्ते पर जाकर खड़े हो गए और लड़कों को यह कहकर लौटाते रहे कि आज स्कूल में छुट्टी हो गई है। बहुत-से लड़के वापस चले गए। जब स्कूल में छात्रों की उपस्थिति बहुत कम दिखाई दी तो हैडमास्टर ने पता लगाया। भेद खुल गया। अगले दिन हैडमास्टर के कमरे में मेरी और

मेरे साथियों की पेशी हुई। हमारे पहुंचते ही हैडमास्टर ने दांत पीसकर कहा, "क्यों स्कूल में ताला डलवाने का इरादा है?" और फिर दोनों हाथों में झाऊ की कमचियां लेकर उन्होंने हमारी इतनी धुनाई की कि कमचियों के निशान हमारी पीठ पर उभर आए और कई दिन तक उभरे रहे।

घर आकर जब मैंने अम्मा को सारी दास्तान सुनाई और अपनी पीठ दिखाई तो वह बड़ी दुःखी हुईं। बोलीं, "तेरे हैड-मास्टर आदमी हैं या जल्लाद?"

एक दूसरी घटना बड़ी मनोरंजक है। हमारे कुछ साथियों ने उड़ा दिया कि स्कूल के एक कमरे में रात को परियों का नाच हुआ करता है। एक दिन हमने बहुत-से लड़कों को वह नाच देखने के लिए आमंत्रित किया। रात में स्कूल की देख-भाल के लिए एक चौकीदार रहता था। उसने लड़कों को रोका, पर उसकी कौन सुनता? एक कमरे की किवाड़ों में दरार थी। उसी दरार पर आंखें सटाकर परियों का नाच देखने के लिए लड़कों में खूब धक्का-मुक्की हुई। कमरे में अंधेरा था। दिखाई कुछ नहीं देता था, पर हमलोगों ने कहा, "ध्यान से देखोगे तो अन्धेरे में छायाएं घूमती दीख पड़ेंगी और उनके पैरों के घुंघरुओं की आवाज सुनाई देगी।"

रात को बड़ी देर तक तमाशा चलता रहा और हमारी टोली खूब आनंद लेती रही। परी-वरी तो क्या दिखाई देनी थी!

अगले दिन चौकीदार ने हैडमास्टर को रात की घटना की रिपोर्ट दी। हैडमास्टर ने हमें बुलाया और पूछताछ की। हम क्या जवाब देते? उन्होंने उठकर हमारी पीठ पर जो मुक्के जमाये, उनका दर्द कई दिन तक बना रहा।

हमलोग शरारतों में जितने तेज थे, उतने ही तेज पढ़ने-लिखने में भी थे। स्कूल में हमेशा हमारी धाक रही। उन दिनों उर्दू का चलन था। मैंने उर्दू सीखी, हिन्दी पढ़ी। गणित में मेरी बड़ी रुचि थी। दूसरे और विषय भी भारी नहीं लगते थे। इतिहास तो मुझे इतना प्रिय था कि बी०ए० तक मैंने उसे नहीं छोड़ा।

लेकिन स्कूल में जितना पढ़ा, उससे अधिक घर में सीखा। मेरी अम्मा वैसे ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थी, लेकिन किताबें बहुत पढ़ती थी। उसका यह स्वभाव अंत तक रहा। जब आंखें कमजोर हो गईं तो वह किसी बच्चे से पुस्तकें पढ़वाकर सुना करती थी। अम्मा के पास कहानियों का अनंत भण्डार था। रात को सोने से पहले हम उसके पास लेट जाते और वह हम बहन-भाइयों को खूब लम्बी-लम्बी कहानियां सुनाती।

इस संदर्भ में मैं अपने फूफाजी (अक्षय के पिताजी) बाबू रूपकिशोर के ऋण को कभी नहीं भूल सकता। वह बड़े ही प्रतिभाशाली थे। लेखन में उनकी बड़ी गति थी। वह हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी और उर्दू अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने 'अलिफलैला' का मूल भाषा से हिन्दी में अनुवाद किया, जो दुलारेलाल भार्गव ने अपनी 'गंगा पुस्तक माला' से 'सहस्र मंजरी' के नाम से प्रकाशित किया। हफ्ते में एक-दो बार रात को हम उनके बिस्तर पर बैठ जाते और वह हमें बड़े रस-पूर्वक कहानियां सुनाते।

इसके साथ ही वह हम सबको निबंध लिखने के लिए प्रेरित करते। जिनके लेख बढ़िया होते, उन्हें पुरस्कार में पेड़े मिलते। उनका ज्यादातर जोर सुलेख पर होता था। उसके लिए वह १०० में २५ अंक रखते थे। फूफाजी और उनके छोटे भाई

बाबू केशवदेव ने हमको भरपूर बढ़ावा दिया, आशीर्वाद भी। मैं भूल नहीं पाता कि कितनी बार उन्होंने बराबर के पलंग पर लेटी फूआ से कहा था, "देख लेना, एक दिन यह यशपाल बहुत उन्नति करेगा।" उनके इस आशीष-वचन ने मुझे एक नया हौसला दिया।

हमलोगों ने बहुत-से नाटक भी खेले। तख्त डालकर अक्षय की हवेली में मंच बना लेते थे और बिस्तर की चादरों और जनानी साड़ियों से पर्दे बना लेते थे। मोहल्ले के बच्चे और बड़े लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी और जरा-जरा सी बात पर तालियों की गड़गड़ाहट होती थी।

उस समय तक के जीवन में बहुत-से मीठे अनुभव हुए तो कड़वे अनुभव भी कम नहीं हुए। जिस प्रकार श्वेत और श्याम रंगों से चित्र आकर्षक बनता है, उसी प्रकार जीवन में मधुर और कटु दोनों प्रकार के अनुभवों का महत्व है। पर कटु अनुभवों की याद क्या करना!

यों खेल-कूद और पढ़ाई-लिखाई के बीच बचपन कब बीत गया, पता भी नहीं चला। मिडिल पास किया। आगे पढ़ाई की व्यवस्था विजयगढ़ में नहीं थी, अलीगढ़ में थी। प्रश्न था कि या तो पढ़ाई समाप्त करें या विजयगढ़ को छोड़कर अलीगढ़ जायं। सोच-विचार के बाद अलीगढ़ जाने का निश्चय हुआ। उसके साथ ही जीवन-यात्रा के प्रथम चरण की समाप्ति हुई, दूसरा चरण आरंभ हुआ।

२ / बड़े नगर में

अलीगढ़ में मैं कायस्थ पाठशाला में दाखिल हुआ। रहने की व्यवस्था होस्टल में की गई, जो वहां के जैन मंदिर से सटे कमरों में था। स्कूल का पुराना नाम 'कायस्थ पाठशाला' था, पर था वह हाई स्कूल तक। अब तो वह इन्टर कालेज हो गया है।

अलीगढ़ पहुंचते ही मेरी दिलचस्पी स्काउटिंग में हुई। पढ़ाई के साथ-साथ मैं स्काउटिंग में खूब कसकर काम करता। उन दिनों अलीगढ़ में कलक्टर एक अंग्रेज थे—पी० डब्ल्यू० मार्श। वह स्काउट कमिश्नर भी थे। बड़े सरल और सेवा-भावी थे। कार्य करते-करते उनसे परिचय हुआ और कुछ ही दिनों में मैं उनका विश्वासपात्र बन गया। उन्होंने मुझसे कह रखा था कि तुम जिस घड़ी मेरे पास आना चाहो, आ सकते हो। एक बार अलीगढ़ में एक कार्नीवल आया। एक दिन रात को मैं उसे देखने चला गया। वहां कई प्रकार का जुआ हो रहा था। रात को दस बजे के बाद मैं सीधा मार्श की कोठी पर गया। सारी बात बताई। अगले दिन शाम को चार बजे कार्नीवल को वहां से हटा दिया गया।

धीरे-धीरे मैंने स्काउटिंग की कई प्रतियोगिताएं जीतीं और मैं स्काउट मास्टर हो गया। अब मैं पढ़ाई के साथ-साथ स्काउटों के प्रशिक्षण का काम भी करने लगा।

स्काउटिंग के सिलसिले में मेरा परिचय स्काउटिंग के हेड-

क्वार्टर कमिश्नर पं० श्रीराम वाजपेयी, उनके सहयोगी श्री डी० एल० आनन्द राव आदि से हुआ। वे इलाहाबाद में रहते थे, पर जब-तब अलीगढ़ या उसके आसपास आते रहते थे। खुर्जा के एक युवक स्काउट के प्रति मेरा विशेष अनुराग हुआ। वह युवक था जगदीश चन्द्र माथुर। आगे चलकर वह आई० सी० एस० हुए और जिनके साथ मेरा बहुत ही घनिष्ठ संबंध उनके जीवन के अंतकाल तक रहा। वह बड़े मेधावी युवक थे। ओजस्वी वक्ता थे। स्काउटिंग के कई कैंपों में हमलोग साथ रहे। उनमें फुर्ती तो थी ही, वह बांसुरी बहुत अच्छी बजाते थे। बड़े ही सैलानी थे। लक्ष्मण झूला के निकट निर्मल वन कैंप में एक बार कुछ करते-करते वह एक पेड़ पर चढ़ गए और ऊपर बैठकर उन्होंने जो बांसुरी बजाई तो हम सब मुग्ध रह गए।

आगे चलकर वे एक अच्छे लेखक बने। उन्होंने अनेक नाटक लिखे, संस्मरण लिखे, निबंध लिखे। हिन्दी जगत में उन्होंने अच्छा नाम कमाया, मुझे कसक है कि मेरा वह साथी अल्पायु में ही चल बसा।

हमारे स्कूल की एक पत्रिका प्रकाशित होती थी। उसी में मेरा पहला लेख छपा। उस लेख के छपने पर मुझे बेहद खुशी हुई और मैंने कविताएं और गद्यगीत लिखना आरम्भ कर दिया। एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा, जिसकी पाण्डुलिपि एक मित्र पढ़ने को ले गए और वह उन्होंने खो दी। यह सन् १९२९-३० के दिनों की बात है।

उन्हीं दिनों गांधीजी अलीगढ़ आए। लायल लाइब्रेरी के प्रांगण में उनका भाषण हुआ। अपने स्काउटों को लेकर मैं व्यवस्था के लिए वहां पहुंचा। बड़ी भीड़ थी। बापू आए। उनके चरण छूने के लिए एक बुढ़िया ने आगे जाने का प्रयत्न

किया। मैंने उसे रोक दिया । बापू ने देख लिया । उन्होंने संकेत से कहा, "आने दो।" मैंने रास्ता करके उसे आगे आ जाने दिया। बापू एक क्षण रुके, फिर आगे बढ़ गए। बुढ़िया संतुष्ट होकर लौट गई।

इस ऐतिहासिक घटना से बापू की मानवीयता के प्रति मेरे मन में एक ऐसी जगह बन गई, जो आजतक बनी है, बल्कि धीरे-धीरे उसकी जड़ें बहुत गहरी चली गईं।

अलीगढ़ बड़ी जगह है। छोटे कस्बे से आने वाले के लिए वहां काम की बड़ी गुंजाइश थी। मुझे लगता था कि मैं समाज की भलाई के लिए जो कुछ कर सकता हूं, करूं। कभी कोई मेला या उत्सव होता तो मैं स्काउटों की टोली को लेकर व्यवस्था के लिए वहां जाता। गंगा-स्नान के अवसर पर अपनी टोली के साथ राजघाट पहुंचता, जहां गंगा-स्नान के लिए हजारों यात्री इकट्ठे होते।

एक बार ऐसे ही गंगा-स्नान के पर्व के अवसर पर एक बड़ी मजेदार घटना हुई। हमारे स्कूल के खेल-कूद के अध्यापक भी हमारे साथ राजघाट गए। कोई यात्री डूब न जाय, इस-लिए हमारी टोली गंगा के किनारे तैनात हो गई। थोड़ी देर में हमें गोली की आवाज सुनाई दी। मैं दौड़कर उस ओर गया तो देखता क्या हूं कि हमारे मास्टरजी नदी की धारा की ओर निशाना लगा रहे हैं। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "मगर।" और दन-से दूसरी गोली दाग दी। एक बड़ा मगर पानी में था। हमलोग अचरज में थे कि वह गोली खाकर नीचे क्योंनहीं चला गया!

जैसे-तैसे डरते-डरते उसको रस्सी बांधी और खींचकर बाहर ले आए। फिर तो मारे हँसी के हमारा हाल-बेहाल हो

गया। पता चला कि दो-तीन दिन पहले किसी शिकारी ने उस पर गोली चलाई थी और वह गोली खाकर पानी में चला गया था, पर गोली ने उसके प्राण ले लिये। वह पानी के ऊपर आ गया। हमारे मास्टरजी ने उस मरे-मराये जानवर पर दो गोलियां दागी थीं और अभिमान से फूले खड़े थे कि उन्होंने मगर का शिकार कर डाला।

मगर को कई जगह से मछलियों ने खा लिया था। उसकी खाल में जगह-जगह सूराख हो गए थे। वह किसी काम की नहीं रही थी। मारे बदबू के पास खड़ा होना कठिन था।

एक बार एक नौजवान की लाश बहकर आ रही थी। रात का समय था। हमें लगा, कोई जानवर है। जब खींचकर बाहर लाये तो मालूम हुआ कि उस दिन सवेरे जो युवक नहाते हुए डूब गया था, उसकी वह लाश थी। मेले में खबर कराई तो ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उस युवक के घर वाले आ गए। उनका क्रंदन आज भी मुझको सुनाई दे जाता है।

मुझे कायस्थ पाठशाला छोड़कर स्थानीय डी०ए०वी० स्कूल में जाना पड़ा। इसकी भी एक कहानी है। स्कूल और छात्रावास का नियम था कि शहर से बाहर कहीं जाओ तो हैडमास्टर की अनुमति लेनी होती थी। मैं, अक्षय और हमारा एक सहपाठी बुलन्दशहर चले गए। वहां एक प्रदर्शनी हो रही थी। सोचा कि शाम को लौट आयेंगे, इसलिए किसी से कुछ नहीं कहा, न उसके लिए हैडमास्टर की अनुमति ली।

संयोग से हमारे जाते ही हमारे एक संबंधी बाहर से आए। हमसे मिलने स्कूल पहुंचे और जब हम वहां नहीं मिले तो होस्टल गए। वहां भी हमें न पाकर उन्होंने हैडमास्टर को खबर दे दी। उसी समय किसी लड़के ने बताया कि हो-न-हो

वे लोग बुलन्दशहर गए होंगे, क्योंकि उसका मित्र, जो हमारे साथ गया था, वह जाने को कह रहा था। यह भी कह रहा था कि हम दोनों को साथ ले जायगा।

सुराग पाकर हमारे संबंधी ने बुलन्दशहर की बस पकड़ी और वहां पहुंचकर सीधे प्रदर्शनी गए। हमलोग वहां घूम ही रहे थे। संबंधी क्रोध से लाल-पीले हो रहे थे। उन्होंने झपट-कर हमलोगों पर आक्रमण किए। हमारी सिट्टी तो उन्हें देख-कर वैसे ही गायब हो गई थी। वह आगे आए तो मैंने उनका हाथ पकड़ लिया। पर वह तैश में थे। खूब गुत्थम-गुत्था हो गई। लोगों ने बीच-बचाव कर दिया।

हम सब अलीगढ़ लौटे। हैडमास्टर के सामने पेश किये गए। हैडमास्टर अनुशासन के बड़े पक्के थे। उन्होंने आव देखा न ताव, हम तीनों को एक वर्ष के लिए स्कूल से निकाल दिया। स्कूल और होस्टल का नियम हमने अवश्य तोड़ा था, पर हमारा अपराध इतना संगीन तो नहीं था कि उसके लिए इतनी कठोर सजा दी जाती ! आखिर लड़कों में इतनी गंभीरता हो तो उनमें और बड़ों में अन्तर ही क्या !

हैडमास्टर ने दण्ड दिया, किन्तु जाने-अनजाने उन्होंने हमारे हित में एक चूक कर दी। उन्होंने हमें अपने स्कूल से हटाया, लेकिन दूसरे किसी स्कूल में दाखिले पर पाबंदी नहीं लगाई। मेरा दाखिला डी०ए०वी० स्कूल में हो गया और मेरा एक साल बर्बाद होने से बच गया। वहीं से मैंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर वहीं के धर्म समाज कालेज में इंटर में दाखिला ले लिया।

कायस्थ पाठशाला के दिनों की एक शरारत पर आज मुझे बड़ी लज्जा आती है। दुःख भी होता है। वहां हमें जो अध्या-

पक हिन्दी पढ़ाते थे, वह बड़े ही सरल और सीधे थे। अच्छा पढ़ाते थे। रामायण की बहुत-सी चौपाइयां उन्हें कण्ठस्थ थीं। पर वह एकाक्षी थे। हर घड़ी धूप का चश्मा लगाए रहते थे। हम उनका बड़ा आदर करते थे, पर कभी-कभी शरारत करने को मन हो आता था। हममें से कभी कोई तो कभी कोई, उनकी उस आंख की ओर खड़ा हो जाता था, जिससे उन्हें दिखाई नहीं देता था। हमलोग खड़े ही नहीं होते थे, उनकी आंख की ओर उंगली से संकेत भी करते थे। सारी क्लास खिलखिलाकर हंस पड़ती थी।

एक दिन हममें से जैसे ही किसी ने यह शरारत की कि पंडितजी ने अपना मुंह घुमाया। उंगली उनके चश्मे में लगी। उनको बड़ा बुरा लगा। नाराजी भी उन्होंने दिखाई। पर हम अपनी आदत से बाज नहीं आए।

इसके दो-तीन दिन बाद एक दिन पंडितजी को संदेह हुआ कि कोई लड़का आकर खड़ा हो गया है। उन्होंने बिना देखे, खीजकर, बड़े जोर से उसके चांटा मारा। पर वहां कोई लड़का नहीं था, स्कूल का चपरासी था, जो कोई नोटिस लेकर आया था।

उस घड़ी हमें अपनी अशिष्टता और उससे भी बढ़कर अपनी मूर्खता का बोध हुआ और मैंने निश्चय किया कि आगे किसी भी व्यक्ति की शारीरिक असमर्थता की खिल्ली नहीं उड़ाऊंगा।

मैंने हाई स्कूल डी०ए०वी० स्कूल से सन १९३१ में पास किया और अलीगढ़ में ही धर्म समाज कालेज में इन्टर (पहले वर्ष) में दाखिला ले लिया।

३ / शिक्षा की प्रगति

कायस्थ पाठशाला के संस्थापकों में अलीगढ़ के एडवोकेट बाबू कामता प्रसाद थे। उस शिक्षा-संस्था और उसके भवन के निर्माण में उनका विशेष योगदान था। वह बड़ी कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति थे। अंग्रेजी के अच्छे लेखक थे। उनकी एक पुस्तक 'पॉलिटिकल विजडम ऑफ एडमंड बर्क' लंदन के प्रमुख प्रकाशक एलन अनविन से प्रकाशित हुई थी। वह लगभग सभी अंग्रेजी के प्रतिष्ठित पत्रों के सम्वाददाता थे। स्काउटिंग में उनकी सेवाएं बड़ी महत्वपूर्ण थीं। सार्वजनिक जीवन में वह अत्यन्त लोकप्रिय थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वह प्रबल पक्षधर थे।

मेरे प्रति उनका बड़ा स्नेह था। वह चाहते थे कि मैं आगे बढ़ूं। उन्होंने मुझे भरपूर प्रोत्साहन दिया, यहां तक कि जब वह अलीगढ़ छोड़कर इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करने गए, तो मुझे भी साथ ले गए और वहां ईविंग क्रिश्चियन कालेज में भरती करवा दिया। मेरे बड़े भाई को उन्होंने अपना मुंशी बना लिया। उनकी इच्छा थी कि मैं वकालत पास करूं और उस क्षेत्र में नाम कमाऊं।

मैंने ईविंग क्रिश्चियन कालेज से इंटर (दूसरे वर्ष) और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी०ए० (१९३५) और लॉ (१९३७) की परीक्षा पास की, लेकिन उनका स्वप्न पूरा नहीं हुआ। नवें दर्जे से मेरा जो लेखन आरंभ हुआ था, वह बराबर चलता

रहा और इलाहाबाद पहुंचकर तो वह और भी बढ़ गया। वहां के दैनिक पत्र 'भारत' और मासिक कहानी पत्र 'माया' में मैंने खूब लिखा, और कानून की परीक्षा पास करते-करते हिन्दी जगत में मेरा नाम फैल गया। दिल्ली के चित्रपट, नवयुग, सचित्र दरबार में मेरी रचनाएं बराबर छपती रहीं।

अब मेरे सामने बड़ी द्विविधा थी। दो विकल्प थे। वकालत करूं या सीधा साहित्य के क्षेत्र में पड़ जाऊं। बाबूजी (श्री कामता प्रसादजी को सब इसी नाम से संबोधित करते थे) की इच्छा थी कि मैं वकालत न करूं तो भी किसी ऐसी लाइन में जाऊं, जिसका संबंध कानून से हो। सोचते-सोचते विचार आया कि पी० डब्ल्यू० मार्श की सलाह ली जाय। उनकी बदली अलीगढ़ से मेरठ के कमिश्नर के पद पर हो गई थी। उन्होंने एक बार मुझसे कहा भी था कि अपनी पढ़ाई पूरी कर लो तो मेरे पास आ जाना। मैं तुम्हारे लिए कुछ करूंगा।

बाबूजी मुझे लेकर मार्श के पास गए। वह बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा, "मैं अलीगढ़ के कलक्टर के नाम पत्र लिखे देता हूं। वह तुम्हारा नामांकन सीधा नायब तहसीलदार के लिए कर देंगे। फिर तुम्हें आगे बढ़ने का अवसर रहेगा।"

उन्होंने झट चिट्ठी लिख दी; पर मेरे भाग्य में तो कुछ और ही बदा था।

इलाहाबाद की पढ़ाई के दिनों की बहुत-सी स्मृतियां हैं। वहां मुझे अनेक हिन्दी-जगत के लेखकों, कवियों आदि से मिलने और उनके निकट सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। उनको देखकर साहित्य के प्रति मेरा अनुराग और बढ़ा। जब मैं बी०ए० का छात्र था, विश्वविद्यालय में कहानी प्रतियोगिता

हुई। उसकी अध्यक्षता करने आचार्य चतुरसेन शास्त्री आए। उस प्रतियोगिता में सुनाने के लिए मैंने भी एक कहानी दी थी, जो स्वीकृत हुई और उसे मैंने बड़े गर्व से हिन्दी के इतने विख्यात लेखक के सामने छात्र-छात्राओं और प्राध्यापकों से खचाखच भरे हॉल में पढ़कर सुनाया। उसके बाद मेरी एक कहानी मुंशी प्रेमचन्द ने अपने मासिक पत्र 'हंस' में छापी। वैसे मेरी बहुत-सी कहानियां इधर-उधर छप चुकी थीं, लेकिन 'हंस' में कहानी का छपना कुछ और ही मायने रखता था।

अलीगढ़ की अपेक्षा इलाहाबाद का विशेष महत्व था। हिन्दी का वह गढ़ माना जाता था। राजनीति का प्रेरणा-केन्द्र था। बड़े-बड़े नेता वहां आते रहते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू का वह प्रमुख कर्म-क्षेत्र था। आएदिन वहां साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक समारोह होते रहते थे। अलीगढ़ से मेरा वहां आना विकास की कई सीढ़ियां एक साथ ऊपर चढ़ जाना था।

ईविंग क्रिश्चियन कालेज ने मेरे दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में बड़ी सहायता की। वह मिशनरियों का कालेज था। नए-नए मिशनरी वहां आकर हमें पढ़ाया करते थे। उनमें कोई-कोई तो बड़ी छोटी उम्र के होते थे। उनकी उमंग देखते ही बनती थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनमें खुलापन बहुत होता था। क्लास के बाहर वे समानता का व्यवहार करते थे। डा० राइस उसके प्राचार्य थे। छात्रों को बेहद प्यार करते थे। छात्रों में भी उनके प्रति असीम आदर था।

बाइबिल का एक घंटा होता था। उसे पढ़ाती थीं उस कालेज के भूतपूर्व प्रिंसीपल की पत्नी मिसेज जैनवियर। वह करुणा की मूर्ति थीं। जीवन में उन्होंने बड़ा दुःख भोगा था।

उनके पति कॉलेज के ऊपर के कमरे में क्लास लेकर नीचे आ रहे थे कि जीने की एक सीढ़ी टूट गई और वह ऐसे लटक गए जैसे कोई सूली पर लटकता है। वस्तुतः उनका वह लटकना सूली पर ही लटकना था। उनके वहीं प्राण निकल गए। सीने पर पत्थर की चट्टान रखकर उनकी पत्नी अकेली रह गईं। वह हमलोगों को प्रायः घर बुला लेती थीं। घर उनका कॉलेज के अहाते में ही था। एक दिन कहने लगीं, "जानते हो, मैं अपना समय कैसे गुजारती हूं ?"

मैंने कहा, "नहीं।"

बोलीं, "कुर्सी पर बैठ जाती हूं और पंखे के चक्करों को गिनती रहती हूं।"

कहते-कहते उनकी आकृति इतनी दयनीय हो उठी थी कि उनका चेहरा देखा नहीं जाता था। बाइबिल का 'गिरि-प्रवचन' ('सर्मन ऑन दी माउण्ट') पढ़ाते-पढ़ाते उनका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता था। उनका कोई सहारा नहीं था। उनका लड़का नेत्र-हीन था और लंदन में रहता था। अपना एकाकी जीवन उन्होंने कैसे काटा होगा, यह सोचकर रोमांच हो आता है।

कॉलेज का जीवन बड़ा उन्मुक्त था। हमारा अपना बोटिंग क्लब था। उसमें कई नावें पड़ीं रहती थीं। छुट्टी के दिन नाव लेकर हमलोग यमुना में, जिसके किनारे कॉलेज अवस्थित है, खूब सैर किया करते थे।

स्काउटिंग का प्रेम यहां और बढ़ गया। पं० श्रीराम वाज-पेयी तथा श्री डी० एल० आनन्दराव उसी नगर में रहते थे। जब जी में आता था, उनसे मिल आता था। दोनों में सेवा का असीम लगन थी। पुरुषार्थ कूट-कूटकर भरा था। उनका जीवन मुझे हमेशा अनुकरणीय लगा करता था। स्काउटिंग की दस

प्रतिज्ञाएं थीं : १. विश्वसनीय, २. वफादार, ३. दूसरों का सहायक, ४. भ्रातृभाव रखनेवाला, ५. शिष्ट, ६. दयालु, ७. आज्ञाकारी ८. मितव्ययी, ९.प्रसन्न और १०. हृदय, शरीर तथा मन से पवित्र। इन दसों प्रतिज्ञाओं ने जैसे मेरे मस्तिष्क को जकड़ लिया था। संगम पर जब कभी मेला लगता था, हम स्काउटों की टोली वहां पहुंच जाती थी। एक बार बड़े कड़ाके की सर्दी थी। हमलोग सवेरे ४ बजे वहां गए। साइकिलों पर हमारी उंगलियां जकड़ गईं। संगम पर जाकर आग जलाई, तब बड़ी देर में उंगलियां काम लायक हुईं। बहुत-से यात्रियों की जान बचाने में हमारे स्काउट्स ने सहायता की।

संयोग से जगदीश चन्द्र माथुर भी उसी कॉलेज में प्रथम वर्ष में थे। मैं दूसरे वर्ष में था। दिन में कॉलेज में मिलना हो जाता था। स्काउटिंग में तो उनकी भी मेरी जैसी दिलचस्पी थी।

विश्वविद्यालय में गया तो वहां का वातावरण अत्यन्त गरिमायुक्त पाया। यह विश्वविद्यालय भारत के सर्वोत्तम विश्वविद्यालयों में माना जाता था। एक-से-एक बढ़कर प्राध्यापक वहां थे। मैंने बी० ए० में इतिहास और अर्थ-शास्त्र विषय लिये थे। इतिहास विभाग में डा० ईश्वरी प्रसाद और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी की मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी। डा० ईश्वरी प्रसाद के विषय में हम कहा करते थे कि किसी छात्र के सिर में दर्द हो तो उनकी क्लास में चला जाय। इतनी बढ़िया अंग्रेजी बोलते थे कि सुनकर हमलोग सबकुछ भूल जाते थे। वह हमें यूरोप का इतिहास पढ़ाते थे।

उन्होंने मेरी रुचि नेपोलियन में पैदा कर दी। जितनी पुस्तकें, उस समय नेपोलियन के सम्बन्ध में मिल सकती थीं, वे सब मैंने पढ़ डालीं। नेपोलियन के शौर्य ने मेरी जिज्ञासा को

इतना जाग्रत कर दिया कि जब बाद में मुझे यूरोप जाने का अवसर मिला तो मैं नेपोलियन की समाधि पर जाये बिना नहीं रह सका। जोजेफाइन के प्रति उसके प्रेम की कथा मुझे कभी नहीं भूली, और जब उन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद हुआ तो यह पढ़कर मेरी आंखें डबडबा आईं कि अदालत में तलाक के दस्तावेज पर जोजेफाइन ने कांपते हाथों से हस्ताक्षर किये तो नेपोलियन के हस्ताक्षर से इतने सटाकर किये, मानो विच्छेद की उस घड़ी में भी वह उसकी सहायता चाहती हो।

डा० ईश्वरी प्रसाद की विद्वत्ता ने मुझे उनकी ओर आकृष्ट किया, पर उससे भी अधिक मेरे मन पर प्रभाव डाला उनकी सादगी ने। जाड़ों का उनके पास बन्द गले के कोट और पतलून का शायद एक सूट था और गर्मियों के दो। वह यूनीवर्सिटी के पास ही रहते थे। मैं प्राय: उनके घर चला जाता था। वह बैंक रोड की अपनी कोठी के अमरूद खिलाते थे और अपनी गाय का दूध पिलाते थे। अक्सर पूछा करते थे कि लड़के उनके बारे में क्या कहा करते हैं। मैं जवाब देता था कि लड़के आपको बहुत ही कंजूस मानते हैं। इस पर बहुत ही गम्भीर होकर वह कहते थे, "हर आदमी को सादगी के साथ रहना चाहिए। हमारी प्राचीन शिक्षा का आदर्श तपोवन थे, जहां अध्यापक और छात्र लंगोटी लगाकर रहा करते थे।"

उनकी यह बात हम छात्रों का उस समय बड़ा मनोरंजन करती थी, पर दिल में मैं अनुभव करता था कि उनका कथन सही था। सादगी का जीवन ही सर्वोत्तम जीवन हो सकता था। पिछले दिनों लम्बी उम्र में उनका देहान्त हो गया।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का इतिहास का ज्ञान बड़ा मौलिक था। वह हमें मध्यकालीन भारत का इतिहास पढ़ाते थे।

पढ़ते-पढ़ते ऐसा चित्र खींचते थे कि हम सब विद्यार्थी मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते थे। वह ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। जब पहली बार किसी कवि सम्मेलन में कविता सुनाने के लिए उनका नाम पुकारा गया तो मैंने समझा कि और कोई व्यक्ति होगा, किन्तु जब वह सामने आए तो मैं अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर सका। इतने बड़े इतिहासज्ञ का ब्रजभाषा का कवि होना मेरी समझ से परे था।

उनकी मौलिकता ने जहां मुझे उनकी ओर खींचा, वहां उनकी निर्भीकता ने मुझे चकित कर दिया। वह किसी आंग्ल भारतीय लड़की को प्रेम करते थे और जब कभी शाम के समय मैं केनिंग रोड पर जाता तो देखता कि बढ़िया सूट पहने हमारे त्रिपाठीजी उस लड़की की बांह-में-बांह डाले सड़क पर घूम रहे हैं। बाद में तो उन्होंने उसके साथ विवाह किया और फिर अपने अन्तिम दिन उसी के साथ लंदन में बिताए। वहीं उनकी पिछले दिनों मृत्यु हुई। उन्हें किसी प्रकार का संकोच या डर नहीं था, न अपने घर वालों का, न समाज का। जो करना था, खुले आम करते थे। मैं उनकी इस प्रवृत्ति का समर्थन तो नहीं कर पाता था, लेकिन यह अनुभव किये बिना नहीं रहता था कि आदमी को अपने प्रति ईमानदार रहना चाहिए।

जिन अन्य प्राध्यापकों ने मेरे मन को जीता उनमें थे प्रो० शिव आधारपांडे और प्रो० एस० के० रुद्र। पांडेजी अंग्रेजी पढ़ाते थे। बड़े सरल व्यक्ति थे। सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते थे। उनमें बड़प्पन की तनिक भी गंध नहीं थी। एक बार किसी विषय पर उन्होंने एक निबन्ध लिखवाया। मैंने बड़े परिश्रम से लिखा। वह उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने भरी क्लास में मुझे उसको सुनाने के लिए कहा। अन्त में

शाबासी देते हुए अन्य छात्रों से कहा, "निबन्ध इस तरह लिखा जाना चाहिए।" पता नहीं, ऐसा उसमें क्या था, जो उन्हें वह इतना अच्छा लगा !

प्रो० रुद्र को मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। वह हमें अर्थ-शास्त्र पढ़ाते थे। पढ़ाने में उनकी बड़ी गति थी। वह हमारे प्रोक्टर थे। विद्यार्थियों की सच्चाई और ईमानदारी पर अटूट विश्वास रखते थे। दो घटनाएं मुझे हमेशा याद रहती हैं। यूनीवर्सिटी के दो छात्र एक दिन बाजार गए। उन्होंने किसी दुकान में एक निब देखा। दुकानदार ने उसके जो पैसे बताए, उस पर एक छात्र ने कहा कि वह दूसरी दुकान पर कम में मिलता है। दुकानदार ताव में आकर बोला, अगर कम में ले आओ तो मैं इसे मुफ्त में दे दूंगा।

लड़का दूसरी दुकान पर गया और कुछ कम दाम में उसे खरीद लाया, साथ ही कैशमीमो भी कटवा लाया। जब वह दुकानदार के पास आया और कैशमीमो दिखाकर निब मुफ्त में मांगा तो दुकानदार लाल-पीला हो गया। लड़कों ने भी अपनी आवाज ऊंची की। फिर क्या था ! देखते-देखते और दुकानदार आ गए, कुछ ने लड़कों का साथ दिया और जोर की लड़ाई हो गई। जैसे-तैसे झगड़ा शान्त हुआ।

लेकिन लड़के कहां मानने वाले थे ! उन्होंने मामला प्रोक्टर की अदालत में पहुंचा दिया। दुकानदार को समन गए। वे आए। उन्होंने उस सारे काण्ड में लड़कों को दोषी ठहराया, लेकिन प्रो० रुद्र ने साफ कहा, "मेरे विद्यार्थी झूठ नहीं बोल सकते।" उन्होंने दुकानदार से माफी मंगवाई या कुछ दण्ड दिया।

एक दूसरी घटना का भी मुझे आज ध्यान है। प्रो० रुद्र ने

कह रक्खा था कि कुछ भी करो, पर मेरे पास आकर सच-सच कह दो। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। हुआ यह कि हम दो लड़के एक साइकिल पर कहीं जा रहे थे। अचानक पुलिस इन्स्पैक्टर वहां आ गया। उन दिनों दो व्यक्तियों के एक साइ-किल पर चढ़ने पर पाबन्दी थी। उसने मेरी साइकिल का चालान कर दिया। पता पूछा तो मैंने ठीक-ठीक बता दिया। उसके अगले दिन यूनीवर्सिटी की गर्मियों की छुट्टी हो गई।

यूनीवर्सिटी खुलने पर मैं वहां पहुंचा तो किसी लड़के ने मुझे बताया कि मेरे नाम वारंट है। मैं सीधा प्रो० रुद्र के पास गया और मैंने कहा, "ऐसा मालूम होता है कि चालान और किसी का हुआ है, नाम उसने मेरा लिखवा दिया है।" प्रो० रुद्र ने मामले में तारीख दी और इन्स्पैक्टर को बुलाया। हम दोनों उनकी अदा-लत में गए। इन्स्पैक्टर ने मुझे देखते ही कहा, "जीहां, यही थे।" मैंने कहा, "आपको भ्रम हुआ है। मैं नहीं था।" इन्स्पैक्टर अपनी बात कहता रहा और प्रो० रुद्र ने यह कहकर मामला खारिज कर दिया कि मैंने जो कुछ कहा है, वह सच कहा है। उस घटना की याद करता हूं तो आज भी मुझे दुःख होता है कि मैंने अपने बचाव के लिए असत्य बात अपने मुंह से क्यों निकाली ?

इससे यह समझना भूल होगी कि प्रो० रुद्र गलत बातों में अपने छात्रों का साथ देते थे। ऐसा नहीं था। वह दिल से मानते थे कि युवकों का चरित्र बनाना है तो उन पर विश्वास करना होगा और इसके लिए उन्हें अवसर देना होगा। 'बेईमान' कह-कहकर तो उन्हें सचमुच बेईमान बना देना है। प्रो० रुद्र को छात्र दिल से प्यार करते थे और उनका कहना टालने की उन्हें हिम्मत नहीं होती थी।

एक बार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को यूनीवर्सिटी में आमंत्रित किया गया। जब वह बोलने लगे तो माइक की व्यवस्था होते हुए भी उनका कोमल स्वर सिनेट हॉल के अन्त में सुनाई नहीं दिया। एक छात्र ने खड़े होकर कहा, "सर, आपकी आवाज सुनाई नहीं देती।"

गुरुदेव चुप हो गए। तभी प्रो० रुद्र खड़े हो गए और उन्होंने कहा, "विश्व के महानतम व्यक्ति आज हमारे बीच हैं, यह हमारा परम सौभाग्य है। आप धैर्य रक्खें। आपको सबकुछ सुनाई देगा।"

हॉल में इतनी खामोशी छा गई कि सुई गिरे तो उसकी भी आवाज सुनाई दे जाय। प्रो० रुद्र ने गुरुदेव से बड़ी विनम्रता और आदर के साथ अपना भाषण जारी रखने का अनुरोध किया।

ऐसे प्रो० रुद्र की मृत्यु बड़े दुःखद रूप में हुई। वह नैनीताल गए थे। वहां से भीमताल गए। उस ताल में तैरते हुए घास और झाड़-झंखाड़ में फंस गए और निकल नहीं पाये। उनका शव बरामद हुआ। वह स्वयं महान थे। महान पिता के पुत्र थे। उनके पिता सुशील रुद्र दिल्ली में सेंट स्टीफन्स कॉलेज के प्रिंसीपल थे। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधीजी जब कभी दिल्ली आते थे, उन्हीं के अतिथि बनते थे। उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए गांधीजी ने लिखा है, "उनके सारे कार्य धर्म-भाव से प्रेरित होते थे। ऐसी हालत में दुनिया की सत्ता छिन जाने का उन्हें कोई डर न था, तथापि वही धर्म-भाव उन्हें सांसारिक सत्ता के अस्तितत्व और उपयोग तथा मित्रता के मूल्य को समझने में सहायकहोता था। जिस धार्मिक भाव से मनुष्य को विचार और आचार के सुन्दर मेल का यथार्थ ज्ञान होता है,

उसकी सत्यता को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखाया था। आचार्य रुद्र ने अपनी ओर इतने उच्च चरित्र लोगों को आकर्षित किया था, जिनके सहवास की इच्छा किसी को हो सकती है। बहुत लोग नहीं जानते कि श्री सी० एफ़० एण्ड्रयूज हमें प्रिंसीपल रुद्र के कारण प्राप्त हुए थे। वे जुड़वां भाई जैसे थे।"

यूनीवर्सिटी में और भी कई प्राध्यापकों के सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। उनमें से कुछ ने मुझे जाने-अनजाने, जीवन-मूल्यों को पहचानने तथा उन पर आस्था रखने में सहायता की। प्रो० अमरनाथ झा का हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं का ज्ञान और समान अधिकार के साथ उनकी इन भाषाओं में वक्तृत्व-कला मुझे आश्चर्य-चकित कर देती थी। उनकी सहृदयता तो और भी विस्मय-जनक थी। यूनीवर्सिटी छोड़ने के बाद जब-जब उनसे भेंट हुई, उन्होंने कभी मुझसे हाथ नहीं मिलाया। सदा सीने से लगाया।

हिन्दी मेरा विषय नहीं था, किन्तु जब-तब मैं डा० धीरेन्द्र वर्मा अथवा डा० रामकुमार वर्मा के हिन्दी वर्ग में जा बैठता था। उन्हें अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दो पढ़ाते सुनकर हंसी रोकना कठिन हो जाता था।

यूनीवर्सिटी में पहुंचते ही मैं यू०टी०सी० (यूनीवर्सिटी ट्रेनिंग कोर) में भर्ती हो गया और चार वर्ष तक सैनिक प्रशिक्षण लिया। बन्दूक चलाना सीखा, लम्बे-लम्बे कूच किये, अनुशासन का पाठ पढ़ा और सबसे बड़ी बात यह समझी कि विदेशी सत्ता को अपने देश से हटाना है तो अपने शरीर को मजबूत करो, देश की रक्षा के लिए अपने को तैयार करो और देश-भक्ति को कूट-कूटकर अपने अन्दर भरो।

कानून की पढ़ाई के दिनों में हमें व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए हाईकोर्ट जाना पड़ता था। वहां अनेक विख्यात विधि-वेत्ताओं से मिलने और अदालत से जिरह करते देखने का अवसर मिला। सर तेजबहादुर सप्रू, कैलासनाथ काटजू, प्यारेलाल बैनर्जी आदि अदालत पर किस प्रकार छाये रहते थे, यह देखते ही बनता था। एक दिन सर तेजबहादुर सप्रू, अंग्रेज न्यायाधीश के सामने किसी भारतीय विश्वविद्यालय के मामले में बहस कर रहे थे। वह बहुत लम्बा बोलते थे। छोटी-सी-छोटी बात को फैलाकर कहने का उनका स्वभाव था। बहस के दौरान न्यायाधीश ने कोई प्रश्न पूछा और उनसे 'हां' या 'न' में जवाब देने को कहा। सर तेज ने झट उत्तर दिया, "माई लार्ड, मैं विद्यार्थी नहीं हूं। किसी भी सवाल का 'हां' या 'ना' में उत्तर देने की मेरी आदत नहीं है। मैं अपनी पूरी बात कहूंगा। अगर आप सुनना चाहें तो सुन लीजिये, नहीं तो मैं बैठ जाता हूं।" इतना कहकर वह अपनी कुर्सी पर बैठ गये। न्यायाधीश ने मुस्कराकर कहा, "अपनी बहस जारी रखिये।"

इससे पता चलता है कि उस समय भी हमारे देश में ऐसी प्रतिभाओं की कमी नहीं थी, जिनका लोहा अंग्रेज भी मानते थे।

आनन्द भवन राजनीति का प्रमुख केन्द्र था। वह नेहरू-परिवार का आवास तो था ही, बड़े-से-बड़े नेताओं का भी वहां जमघट रहता था। हम विद्यार्थी प्रायः वहां चले जाते थे और अपने नेताओं को देखकर गद्‌गद् हो जाते थे। एक दिन गांधीजी की प्रार्थना में भी वहां सम्मिलित हुए थे और जवाहरलालजी का बड़ा उग्र रूप देखा था।

पर जिनकी याद आज भी मेरे मन को गुदगुदा देती है, वह

थे कर्मवीर पं. सुन्दरलाल। राजनैतिक क्षेत्र में वह बड़े लोकप्रिय थे। बड़े ओजस्वी वक्ता थे। हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। राष्ट्रीय हित के लिए समर्पित थे। बड़े फक्कड़ और निर्भीक थे। विद्यार्थियों को बड़ा प्यार करते थे। मैं छुट्टी के दिन या कभी शाम को उनके पास चला जाता था। वह लिखते भी बहुत बढ़िया थे। सन् १९३४ की एक घटना याद आती है। उन दिनों बिहार में भयंकर भूकम्प आया था। उस सिलसिले में एक सार्वजनिक सभा की गई थी। पंडितजी ने मुझसे कहा कि तुम कुछ और विद्यार्थियों को साथ लेकर सभा में आ जाना और जब मैं भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए अपील करूं तो तुम लोगों के बीच घूम-घूमकर पैसा इकट्ठा करना।

हमारी टोली ठीक समय पर सभा-स्थल पर पहुंच गई। कुछ लोग बोले। फिर पंडितजी की बारी आई। उन्होंने कहा, "यह समय लम्बी-चौड़ी तकरीर करने का नहीं है। मैं माताओं और बहनों से कहना चाहता हूं कि अगर तुम अपने बच्चों को एक दिन दूध नहीं पिलाओगी तो उससे तुम्हारे बच्चे मर नहीं जायेंगे, लेकिन वह पैसा सहायता में दे दोगी तो उससे बिहार में सैकड़ों-हजारों लोगों की जान बच जायेगी।"

इसके बाद पंडितजी ने जो रोना शुरू किया, उससे सारी सभा की आंखें गीली हो गईं। महिलाएं तो इतनी अभिभूत हुईं कि उन्होंने अपने बटुए ही खाली नहीं किये, अपनी अंगूठियां, कान के बुन्दे और सोने की चूड़ियां तक उतारकर हमारी झोली में डाल दीं। जब हमारी कमीज की झोली भर जाती तो उसे दौड़कर मंच पर खाली कर आते। थोड़ी देर में इतने जेवर और इतना पैसा इकट्ठा हो गया कि हमलोग चकित रह गये। पंडितजी मंच से हटे नहीं, सिसकते, रूमाल से आंसू पोंछते,

खड़े रहे। भावना का वह विलक्षण ज्वार था।

इसके कुछ दिन बाद बिहार जाते हुए गांधीजी इलाहाबाद से गुजरे तो हमें साथ लेकर पं० सुन्दरलालजी स्टेशन पर मौजूद थे। अनेक नेता उपस्थित थे। उनमें सरोजिनी नायडू भी थीं। गाड़ी के रुकने पर गांधीजी डिब्बे के दरवाजे पर आकर खड़े हो गये और अपनी चादर की झोली फैला दी। उसे भरने के लिए लोगों में होड़ लग गई। मुझे याद है कि एक कुली ने अपनी कमाई का एक पैसा उनकी झोली में डाला था तो गांधीजी ने उसका जयकार किया था।

पं. सुन्दरलालजी के साथ जो सम्बन्ध जुड़ा था, वह उनके अन्त समय तक बना रहा। उनके साथ भाई विश्वम्भरनाथ पाण्डे रहते थे। और उनके सार्वजनिक कामों में, विशेषकर साहित्यिक कामों में, बड़ी मदद करते थे। वह स्वयं प्रभावशाली लेखक और वक्ता हैं। उनकी आवाज बड़ी बुलन्द है। लाउडस्पीकर के अभाव में वह नेताओं की आवाज को दूर-दूर तक पहुंचाने में सहायक होते थे। उन्होंने 'विश्व वाणी' प्रेस लगाया था और कई वर्ष तक 'विश्व वाणी' मासिक पत्रिका निकाली थी। इस पत्रिका के अनेक संग्रहणीय विशेषांक निकाले। पंडित सुन्दरलालजी के मासिक पत्र 'नया हिन्द' में भी वह सहयोगी बने। धीरे-धीरे उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना। वह जिला बोर्ड के अध्यक्ष चुने गये। इलाहाबाद के सार्वजनिक जीवन में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया। इंदिराजी ने उन्हें राज्य सभा के लिए नामांकित किया, फिर उड़ीसा का राज्यपाल बनाया। आजादी मिलने के पहले और बाद में उन्होंने देश की बड़ी सेवा की। गांधीजी के आंदोलनों में जेल गये। आज भी वह विविध प्रकार से देश की सक्रिय सेवा में संलग्न हैं।

गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से लौटकर एक वर्ष देश में घूमने में बिताया और सारी स्थिति का जायजा लेकर राज-नीति के मंच पर अपना कार्य आरम्भ कर दिया। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे अहिंसा थी, किन्तु उनकी अहिंसा उस समय सहज ही लोगों के गले नहीं उतर पाती थी। जिस सरकार का साम्राज्य इतना व्यापक था कि उस पर सूर्यास्त नहीं होता था, उसे अहिंसा से कैसे हटाया जा सकता है, यह बात उस समय आसानी से समझ में नहीं आती थी। धीरे-धीरे उन्होंने अपने अठारह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रमों का जाल सारे देश में फैला दिया।

दो वर्ष में बी. ए. और दो वर्ष में एल-एल. बी. की परीक्षाएं उत्तीर्ण करके मैंने विश्वविद्यालय छोड़ा। उसके साथ ही जीवन का एक और अध्याय पूर्ण हुआ। अब आगे लम्बी-चौड़ी दुनिया फैली थी और मुझे अपना रास्ता तय करना था।

४ / नये जीवन का आरम्भ

इलाहाबाद छोड़ते मुझे बड़ा दुःख हुआ। दुःख होना स्वाभा-विक था। वहां मैंने पांच वर्ष बिताए थे और उस स्थान के साथ मेरा रागात्मक सम्बन्ध पैदा हो गया था। वहां मैंने जीवन-सागर को पार करने के लिए तैरना सीखा था, अपनी साहि-त्यिक रुचि और लेखनी को धार दी थी, साहित्य-सेवियों से नाता जोड़ा था और अनेक परिवारों से मेरा आत्मीयता का संबंध हो गया था, पर चूंकि वहां रहकर वकालत करने का मेरा इरादा नहीं था, इसलिए इच्छा न होते हुए भी इलाहाबाद मुझे छोड़ना ही था।

मेरे पिताजी ने अपनी बदली उत्तर प्रदेश के एटा नगर के निकट भिसी-मिर्जापुर में करा ली थी। वहीं मेरी एकमात्र बहन श्रीप्रभा का विवाह हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक श्री जैनेन्द्रकुमार के सगे भानजे महावीर प्रसाद के साथ हुआ। चूंकि महावीर प्रसाद जैनेन्द्र कुमार को 'मामा' कहकर पुकारते थे, मैं भी उन्हें 'मामाजी' कहकर सम्बोधित करने लगा। वह सम्बोधन उनके साथ ऐसा जुड़ा कि मेरे निकट के अधिकांश लोग उन्हें 'मामाजी' कहने लगे।

विवाह बड़ी सादगी से हुआ। कुल २७ व्यक्ति बरात में आए। मामाजी और उनके मामा महात्मा भगवानदीनजी कन्या-पक्ष की ओर से विवाह में सम्मिलित हुए। उन्होंने हमारे साथ बरात का स्वागत किया और सारी रस्में बड़ी भावना के साथ पूरी कराईं। श्रीप्रभा के चार लड़कियां और एक लड़का हुआ। विवाह के कई वर्ष बाद महावीर प्रसाद का और फिर श्रीप्रभा का देहान्त हो गया।

मामाजी और महात्माजी के साथ मेरा परिचय विवाह से पहले ही हो चुका था। मामाजी ने उस समय तक अधिक नहीं लिखा था, लेकिन उनकी कहानियों तथा 'परख' उपन्यास ने हिन्दी-जगत में उन्हें ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठापित कर दिया था। उन्होंने हिन्दी को नई शैली और नई विधा दी थी। कथा-शिल्प में उन्होंने क्रांतिकारी परिवर्तन किया था। स्थूल से वह उसे सूक्ष्म की ओर ले गए थे। उसे मनोवैज्ञानिक आधार दिया था और उसके द्वारा अन्तरमन की झांकी दी थी।

उनकी रचनाओं को मैं पढ़ता रहा था और उनके प्रति मेरे मन में बड़ा आकर्षण उत्पन्न हो गया था। फिर भी एक साथ साहित्य को अपना कर्म-क्षेत्र बनाने की स्फुरणा मेरे

मन में पैदा नहीं हुई।

कई विकल्प सामने आए। उदयपुर के विद्याभवन का उन दिनों बड़ा नाम था। सोचा, वहीं नौकरी करनी चाहिए। उसके प्रिंसीपल डा. कालूलाल श्रीमाली थे। उन्हें इलाहाबाद छोड़ने से पहले पत्र लिखा था। उनका उत्तर आया कि एक वर्ष के लिए आ जाओ। प्रश्न हुआ एक वर्ष के बाद क्या होगा? पायलट बनने का विचार आया, उसके लिए आवेदन-पत्र भेजा। शिक्षक की ट्रेनिंग करने की आकांक्षा हुई, उसके लिए प्रयत्न किया, लेकिन सफलता नहीं मिली। तभी अपने अंग्रेज हितैषी मार्श का ध्यान आया और बाबूजी (कामता प्रसाद) को साथ लेकर मेरठ में उनसे मिला। पहले ही लिख चुका हूं कि उन्होंने अलीगढ़ के कलक्टर के नाम पत्र दे दिया। विचार आया कि दिल्ली होकर अलीगढ़ चलें। दिल्ली आए और मामाजी के साथ ठहरे।

उनसे भविष्य के बारे में विस्तार से चर्चा हुई। उन्होंने कहा, "तुम जुडीशियल लाइन में जाओगे तो क्या होगा? एक दिन जज बन जाओगे, कमाई होगी, तुम्हारे पास बैंक बैलेंस हो जाएगा। पर जीवन का उद्देश्य कमाई करना ही तो नहीं है। उससे ऊंचा है। मैं अपने जीवन में संघर्ष कर रहा हूं। अगर तुम उस संघर्ष में शामिल होना चाहो तो मेरे साथ आ जाओ, लेकिन इतना ध्यान रखना कि इसमें बड़े खतरे हैं। रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है।"

जिस समय वह यह सब कह रहे थे, मेरी नियति अपना ताना-बाना बुन रही थी। साहित्य की मेरी पृष्ठभूमि थी, पर मैं यह देख चुका था कि हिन्दी के क्षेत्र में काम करना कठोर साधना है। मेरे मन ने कहा--जीवन का ध्येय किसी उच्च आदर्श के लिए साधना करना ही तो है। उसका अपना आनंद है।

उस रात मुझे नींद नहीं आई। तरह-तरह के विचार मन में आते रहे, अन्त में मैंने निश्चय किया कि जो भी हो, इस नये प्रयोग को करना है और जो भी स्थिति सामने आये, उसका मुकाबला करना है।

द्विविधा दूर होने पर मन हल्का हो गया और सवेरे उठकर मैंने मामाजी को अपना निर्णय बता दिया। वह खुश हुए। मैंने मार्श के पत्र को फाड़ डाला और नये रास्ते पर चलने के लिए कृत-संकल्प हो गया। रहने की व्यवस्था मामाजी के साथ ही हुई।

दिल्ली मैं पहले भी दो-तीन बारआ चुका था, फिर भी वह मेरे लिए नया शहर था। कुछ ही दिनों में लोगों से मेरे सम्पर्क बनने लगे। मामाजी स्वयं नहीं लिखते थे, बोलकर लिखवाते थे। लिखने का काम मैंने अपने ऊपर ले लिया, पर यह कार्य तो नियमित रूप में नहीं चलता था। जब वह लिखवाते थे तो तीन-चार घण्टे से अधिक नहीं लिखवा पाते थे। मेरे पास बहुत-सा समय बच रहता था। इसलिए विचार आया कि कुछ और काम भी करने चाहिए।

हिन्दी के लिए मन में बड़ी उमंग थी। सोच-विचार के बाद एक संस्था खोलने का निश्चय किया। उसका नाम रक्खा 'हिन्दी विद्यापीठ।' दरियागंज में हमारे घर के निकट ही कॉलेज ऑफ कॉमर्स था। उसके प्रिंसीपल सेन से परिचय हुआ। वह बड़े भले थे। विद्यापीठ की बात आई तो उन्होंने बड़े उत्साह से कहा, "अपनी क्लासें शाम को चलाओ तो मैं तुम्हें अपने कॉलेज के चार कमरे उपयोग के लिए दे सकता हूं।"

उनका यह प्रस्ताव मुझे बहुत रुचिकर लगा। उन दिनों पंजाब को रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षाओं की धूम

थी। उन परीक्षाओं को चलाने का निश्चय किया, साथ ही मैट्रिक और इन्टर की परीक्षाओं की पढ़ाई का भी प्रावधान किया। कुमारी कंचनलता सब्बरवाल, जो उन दिनों एम. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रही थीं, प्रिंसीपल बनाई गईं। मैं मन्त्री बना। कॉलेज में चार कमरों की व्यवस्था होते ही काम शुरू कर दिया। देखते-देखते विद्यापीठ में लड़के-लड़कियों की काफी संख्या हो गई।

हमारा उद्देश्य संस्था से कमाई करना तो था नहीं, हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना था। इसलिए फीस बहुत कम रक्खी और अध्यापक सब मानद रूप से उसमें सहयोगी बने। डा. नगेन्द्र, मोहन सिंह सेंगर, कंचनलता सब्बरवाल और मैं विशेष रूप से पढ़ाने लगे। स्वयं प्रिंसीपल सेन इण्टर के छात्र-छात्राओं को अंग्रेजी पढ़ाते थे। एक विशाल कुटुम्ब जैसा वातावरण बन गया। हमारे लिए कोई भी काम छोटा नहीं था। विद्यापीठ के प्रचार के लिए पोस्टर भी हम अपने हाथ से लगाते थे। क्लासें समाप्त होने पर रात को एक बाल्टी में लेई और हाथ में कपड़ा लगा बांस तथा पोस्टरों का बण्डल लेकर जगह-जगह मजे में पोस्टर चिपका आते थे। पैसा ही नहीं था कि मजदूर लगाकर इस काम को करवा लेते।

अकस्मात एक समस्या मेरे सामने आई। मामाजी लिखते तो थे, पर उन दिनों लेखों और कहानियों के लिए बहुत कम पैसा मिलता था। चीजें सस्ती जरूर थीं, फिर भी गृहस्थी को चलाने के लिए पैसे की जरूरत रहती थी। खर्चा बंधा था और आमदनी अनिश्चित थी। अक्सर ऐसा होता था कि घर में पैसा नहीं होता था और कहीं से पैसा आने की सम्भावना भी नहीं होती थी! तब क्या हो?

मैंने सोचा कि मुझे भी कुछ ऐसा काम करना चाहिए, जिससे पैसा मिले। किसी ने 'सस्ता साहित्य मण्डल' का नाम सुझाया। उन दिनों उसका कार्यालय दैनिक पत्र 'अर्जुन' और उर्दू के पत्र 'तेज' के पास नया बाजार में था। मैं वहां गया। 'मण्डल' के मन्त्री मार्तण्ड उपाध्याय मिले। वह जब-तब मामाजी के पास आते रहते थे। बड़े प्यारसे मिले और जब मैंने उनसे अपनी बात कही तो उन्होंने बड़ी उदारता से मुझे 'बी कीपिंग' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका दी और उसका हिन्दी में अनुवाद कर देने को कहा।

पुस्तक लेकर मैं चला आया। दो-तीन दिन में मैंने वह काम पूरा कर दिया। उसे मैं मार्तण्डजी को देने गया तो उन्होंने उस पर सरसरी निगाह डाली। शायद अनुवाद उन्हें पसन्द आया। बोले, "क्या आप 'मण्डल' में आ सकेंगे ?"

उनका यह प्रस्ताव मुझे बड़ा आनन्ददायक लगा। मुझे काम की खोज थी और वह मुझे स्थायी काम दे रहे थे। मैंने घर आकर मामाजी से पूछा तो उन्होंने कहा, "जैसा तुम ठीक समझो, कर लो।" मैंने सोचकर मार्तण्डजी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने का निश्चय किया। उनसे मिला और वेतन आदि निश्चय करके काम करना आरम्भ कर दिया।

मेरे जिम्मे अनुवाद, सम्पादन और प्रूफ देखने आदि का काम था। बड़ी लगन से मैंने कुछ ही दिनों में इन सब कामों में अच्छी प्रगति कर ली। उनका समय निश्चित था। शाम को 'मण्डल' के दफ्तर से मैं सीधा विद्यापीठ आता और रात को दस बजे के लगभग छुट्टी पाता।

यह सिलसिला सन् १९३७ से १९३९ तक चला। इस बीच मेरी नौ कहानियों का सबसे पहला संग्रह 'नव प्रसून' नाम

से 'एस. चांद' ने प्रकाशित किया। उसकी भूमिकी मामाजी ने लिखी। उसे प्रकाशक ने प्रयत्न करके मैट्रिक के पाठ्यक्रम में निर्धारित करवा लिया और वह कई वर्ष तक कोर्स में रहा।

'मण्डल' के साधन उन दिनों सीमित थे। बहुत थोड़ी पुस्तकें निकलती थीं और बिक्री भी कम ही होती थी। कर्मचारी भी अधिक नहीं थे। इस बीच हिन्दी के कवि सुधीन्द्र दिल्ली आ गये और पारस्परिक सम्बन्धों के कारण उनका 'मण्डल' में उपयोग करना अनिवार्य हो गया। उनका काम भी वही था, जो मेरा था। दो आदमियों का खर्चा उठाना सम्भव नहीं था। मैंने काम छोड़ दिया। मार्तण्डजी बड़े प्रेमल व्यक्ति थे। उनका हृदय अत्यन्त सम्वेदनशील था, पर वह विवश थे। उन्हें छोड़ते मुझे बड़ी व्यथा अनुभव हुई, पर न उनके सामने कोई चारा था, न मेरे सामने।

आगे काम के लिए मुझे भटकना नहीं पड़ा। दिल्ली में आयुर्वेद की एक नामी फर्म है 'राजवैद्य शीतल प्रसाद एण्ड सन्स।' उससे एक मासिक पत्रिका निकलती थी—'जीवन सुधा'। उसमें फर्म की औषधियों का विज्ञापन होता था, उसके संचालक उसे साहित्यिक पत्रिका बनाना चाहते थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैंने 'मण्डल' का काम छोड़ दिया है तो उन्होंने मुझे बुलाया और 'जीवन-सुधा' को हाथ में ले लेने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध को मैंने स्वीकार कर लिया। मैं उसका सम्पादक हो गया।

उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। उसमें मैं नियमित रूप से कविताएं, लेख, कहानियां लिखने लगा और 'निराश्रिता' नामक एक उपन्यास धारावाहिक रूप में चलाया। बच्चों के लिए 'नानी की कहानी' एक स्तम्भ चालू किया, जिसे मैं ही लिखता था।

उसी दरम्यान मुझे पत्रिका का एक विशेषांक निकालने की प्रेरणा हुई। सोचा कि हिन्दी के लेखकों और उनकी चुनी हुई रचनाओं का परिचय पाठकों को देना चाहिए। अतः एक वृहद 'लेखकांक' निकालने की योजना बनाई। वह विशेषांक हिन्दी में अपने ढंग का निराला विशेषांक था और वैसा प्रकाशन पहले कभी नहीं हुआ था। उसमें सभी छोटे-बड़े, नये-पुराने लेखकों के चित्र थे, परिचय थे और उनकी एक-एक रचना थी। काफी मोटा विशेषांक था। हिन्दी के अधिकांश लेखक उसमें आ गये थे।

मेरे लिए यह एक नया अनुभव था। उसके माध्यम से मुझे बहुत-से लेखकों के सम्पर्क में आने का मौका मिला। उसके लेखकों ने मेरे अनुरोध पर तत्काल अपनी रचनाएं, चित्र और परिचय भेज दिये। यह मेरे लिए अप्रत्याशित सफलता थी।

एक बात बड़ी मजेदार हुई। पत्र के संचालक राजवैद्य महावीर प्रसाद और उनके पुत्र वैद्य शान्ति प्रसाद का आग्रह रहा कि विशेषांक में मेरा भी चित्र रहे और वह सूट में रहे। यूनीवर्सिटी में मैं कभी-कभी सूट पहनता था, लेकिन अब वह बाना बदल गया था। उनके आग्रह पर मैंने अपना सूट निकाला, वह मुझे किसी फोटोग्राफर के स्टूडियो में ले गये और फोटो खिंचवाया। बहुत दिनों तक उस फोटो को देख-देख कर मुझे हंसी आती रही। अपना इतना कृत्रिम रूप बहुत दिनों के बाद मेरे देखने में आया था।

विशेषांक को पाठकों ने बहुत पसन्द किया। विभिन्न पत्रों में उसकी बढ़िया समीक्षाएं हुईं। मुझे इस बात से बहुत संतोष रहा कि हिन्दी के पाठकों को बड़ी संख्या में हिन्दी के नामी-गरामी लेखकों को जानने और उनके विचारों को समझने का मौका मिला।

५ / राजनीति के उतार-चढ़ाव

देश की राजनैतिक स्थिति बड़ी उग्र होती जा रही थी। सन् १९१७ के चम्पारन-सत्याग्रह से लेकर गांधीजी के उपक्रम—असहयोग आंदोलन; चौरी-चौरा काण्ड, बारडोली-सत्याग्रह, पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा, डांडी कूच, गोलमेज परिषद, यरवदा-पैक्ट; साबरमती आश्रम का त्याग आदि अवस्थाओं से गुजरता हुआ राष्ट्र लोक जीवन में प्रविष्ट हो गया था। सारा देश गहरी निद्रा को त्याग कर मैदान में आ गया था। विदेशी शासन इस उभरती हुई लोक-शक्ति को कुचल देना चाहता था। उसने अपना दमन-चक्र जोरों से चलाया, लेकिन ज्यों-ज्यों उसके अनाचार-अत्याचार बढ़े, त्यों-त्यों देश और भी दृढ़ता से उसका मुकाबला करने को कमर कस कर खड़ा हो गया। जेलें भर गईं, अनेक नौनिहाल हंसते-हंसते फांसी के तख्ते पर चढ़ने को आमादा हो गये। सारा देश जोश से उबल रहा था।

अपने आंदोलनों के साथ-साथ गांधीजी रचनात्मक प्रवृत्तियों का जाल सारे देश में बिछा रहे थे। वह दृष्टा थे। बड़े दूरदर्शी थे। उन्होंने देख लिया था कि देश की आत्मा जाग्रत हो उठी है तो भारत एक-न-एक दिन स्वतन्त्र होकर ही रहेगा, लेकिन उन्हें चिन्ता इस बात की थी कि यदि देश में ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, छोटे-बड़े की खाइयां रहेंगी तो स्वतन्त्रता किस प्रकार सुरक्षित रह पावेगी! रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा वह इन्हीं खाइयों को पाटना चाहते थे। उन्होंने धनिकों को

सलाह दी थी कि अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करके शेष धन को समाज की धरोहर मानें और उसे समाज के कल्याण के लिए खर्च करें। सवर्णों को उन्होंने प्रेरणा दी कि हरिजनों के लिए अपने मन्दिरों और कुंओं आदि को खोल दें। स्त्रियों से उन्होंने कहा कि तुम राष्ट्र की गाड़ी का एक पहिया हो। दोनों पहियों के समान और मजबूत होने पर ही देश की गाड़ी आगे बढ़ सकेगी। उन्होंने खादी और ग्रामोद्योगों को सब प्रकार से बढ़ावा दिया। उन्होंने यहां तक कहा, "घर-घर चर्खा चलाओ। मैं तुम्हें एक वर्ष में स्वराज्य दिलवा दूंगा।"

लोगों ने उनकी खिल्ली उड़ाई। कहा कि चर्खे का स्वराज्य से क्या सम्बन्ध है? गांधीजी की अकल सठिया गई है! पर गांधीजी ने धीरज नहीं खोया। जिसे सत्य माना, उस रास्ते पर दृढ़तापूर्वक चलते रहे। कहा जाता है, परमेश्वर सत्य है। गांधीजी ने इस कहावत को पलट दिया। उन्होंने कहा, सत्य ही परमेश्वर है और अहिंसा के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

जब मैं यूनीवर्सिटी में पढ़ता था, गांधीजी के बारे में भांति-भांति की कहानियां सुनने को मिलती थीं। जन-सामान्य में उनका रूप बड़ा चमत्कारी था। सबसे अधिक प्रचलित तो यह कहानी थी कि गांधीजी को जेल के अन्दर बन्द कर दिया गया। फाटक पर ताला लगा रहा और गांधीजी बाहर आ गये। मेरे मन ने कभी इन कहानियों पर विश्वास नहीं किया। मैं मानता था कि वह एक महान नेता हैं; लेकिन उनको इतनी सिद्धि प्राप्त है कि वह ऐसे चमत्कार दिखा सकते हैं, यह मुझे कभी ग्राह्य नहीं हुआ। इसके पीछे मुझे लोगों की अन्धश्रद्धा ही दिखाई दी।

किसी-न-किसी बात को लेकर रोज पकड़ा-धकड़ी होती थी। उस सबको देखकर मेरा मन रोमांचित होता था। भीतर से कोई कहता था कि तू कैसा है, जो अलग खड़े होकर तमाशा देख रहा है! कूद कर मैदान में आ जा। पर वह मेरे जीवन का आरम्भ था। सोचता था, जेल तो बहुत लोग जा रहे हैं, कुछ लोगों को बाहर रहकर काम करना चाहिए। 'मण्डल' में जब मैं कार्य करता था तो 'हरिजन' के बहुत-से अंग्रेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद करके 'हरिजन सेवक' को देता था। जे. सी. कुमारप्पा की अंग्रेजी ग्रामोद्योग-सम्बन्धी पत्रिका के लेखों का अनुवाद भी उसके हिन्दी-संस्करण के लिए करता था।

यह सब करता तो था, फिर भी रह-रहकर मन में विचार आता था कि भले आदमी, इस तरह अपने को बचाकर मत रख। सारा देश जेल जा रहा है। तो तू उनको माला पहना कर अथवा उनके माथे पर टीका लगाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कैसे मान सकता है?

इसी ऊहापोह में मैं दरियागंज वार्ड की कांग्रेस का सदस्य बन गया और आगे संयुक्त मंत्री हो गया।

उन दिनों की एक घटना बड़ी रोचक है। सरोजिनी नायडू दिल्ली आई हुई थीं और वह नई दिल्ली में लाला शंकर लाल की कोठी में ठहरी थीं। हमलोग उनसे मिलने गये और बात-बात में उनको दरियागंज आने और कांग्रेस की एक सभा को सम्बोधित करने का अनुरोध किया, वह राजी हो गईं। दिन और समय तय हो गया। उन्हें लाने के लिए हमने एक बहन को तैनात कर दिया।

लेकिन जब सरोजिनी नायडू दरियागंज पहुंचीं तो मारे गुस्से के उनका चेहरा तमतमा रहा था। आते ही वह हमलोगों

पर बरस पड़ीं। असल में हुआ यह कि जो बहन उन्हें लेने गईं, वह तांगा लेकर गईं और जब श्रीमती नायडू ने सवारी के बारे में पूछा तो उन्होंने बड़ी मासूमियत से कह दिया कि हां, तांगा लाई हूं। उन्हें तांगे में तो क्या आना था, वह लाला शंकर लाल की गाड़ी से आ गईं, लेकिन हम पर उन्होंने गुस्से की इतनी वर्षा की कि हम सहम कर रह गये। जब हमने उन बहन से पूछा कि वह इतनी बड़ी नेता को लेने के लिए तांगा क्यों ले गईं तो उन्होंने उसी मासूमियत से उत्तर दिया कि इसमें क्या हो गया ? मैं उन्हें पैदल तो ला नहीं रही थी ! दरअसल उन दिनों सामान्य कार्यकर्त्ता तांगा और टैक्सी के अन्तर को समझ नहीं पाता था।

ध्यान नहीं आता कि क्या मसला था कि मेरे सब साथी पकड़े गये। मैं उन्हें विदाई देने जेल पर पहुंचा। उन दिनों सेन्ट्रल जेल उस स्थान के निकट थी, जहां आज मौलाना अबुल कलाम आजाद मेडीकल कालेज है। एक-एक करके मेरे सब साथी फाटक के अन्दर चले गये और मैं अभागा अपने से जूझता घर लौट आया।

मैं बार-बार अनुभव करता था कि मेरे सोचने में कितनी बड़ी भूल है। जोर से आग लगी हो तो कोई भी हाथ सेकने की नहीं सोच सकता। देशवासी जेल की यातनाएं सह रहे हों, जेल के भीतर अपार कष्टों का जीवन जी रहे हों तो कोई हृदय-हीन व्यक्ति ही दूर खड़ा रह सकता है !

पर यह सोचकर अपराध की गुरुता कुछ अंशों में कम हो जाती थी कि मैं गांधीजी के विचारों के प्रसार में कुछ अंशों में सहायक हो रहा था।

आज मैं अनुभव करता हूं कि विचारों का बड़ा भारी महत्व

है। विचार किसी भी राष्ट्र की रीढ़ होते हैं। उन्हीं के बलबूते पर देश खड़ा रह सकता है। विचार व्यक्ति को चिन्तन करने को प्रेरित करते हैं। जो राष्ट्र चिन्तनशील नहीं हैं, वे उन्नति नहीं कर सकते। आज हमारे देश की जो बुरी हालत हुई है, उसका मुख्य कारण चिन्तन का अभाव है। जो व्यक्ति चिन्तन करता है, वह अपनी, समाज की और राष्ट्र की सुप्त शक्तियों को जाग्रत करता है। चिन्तनहीन मनुष्य जड़ होता है।

जो हो, मैं अपने काम में लगा रहा। देश की एकमात्र संस्था कांग्रेस थी। उसके कार्यक्रमों में अपने ढंग से मदद करता रहा।

दिल्ली में उन दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन नहीं था। हिन्दी प्रचारिणी सभा थी। उसके काम में भी मैं योग देता रहा। एक बार चांदनी चौक के किसी मकान में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया। प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति उसकी अध्यक्षता कर रहे थे। उसमें मुझसे भी एक निबन्ध पढ़ने को कहा गया था। मैंने उसमें अखबार के मालिक और कर्मचारियों के बीच सौहार्द स्थापित करने की बात पर जोर देते हुए मुंशी प्रेमचन्द के जीवन की उस घटना का उल्लेख किया, जबकि शिवरानीजी ने उन्हें एक कोट का कपड़ा खरीदकर लाने के लिए रुपये दिए थे और प्रेमचन्दजी ने बाहर आते ही अपने एक कर्मचारी को, जिसकी बेटी का विवाह होने को था और उसके पास पैसे नहीं थे, अपनी जेब से वे रुपये निकालकर दे दिए थे। गोष्ठी के समाप्त होने पर कई लोगों ने आकर मुझे घेर लिया और लगे बधाई देने। मैंने पूछा, "क्या बात है?" बोले, "इन्द्रजी स्वयं आराम में रह रहे हैं और उनके कर्मचारियों को कई महीने का वेतन नहीं मिला है। आपने यह घटना सुना-

कर इन्द्रजी के मुंह पर खूब चपत लगाई।"

उनकी बात सुनकर मैं दंग रह गया। मुझे पता भी नहीं था कि 'अर्जुन' के कर्मचारियों को कई महीने का वेतन नहीं मिला है, और वे आर्थिक कष्ट में हैं। मैंने तो सहज भाव से उस घटना का उल्लेख कर दिया था। इन्द्रजी के साथ मेरे बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उनको खरी-खोटी सुनाने अथवा उनका अपमान करने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

उन दिनों हिन्दी के लिए काम करना हंसी खेल नहीं था। न उतनी सुविधाएं थीं, न उतने साधन थे। कन्धे पर झोला डाले हिन्दी के महान साधक पुत्तूलाल वर्मा की आकृति आज भी मेरे सामने आ खड़ी होती है। उन्होंने हिन्दी की मशाल को जलाया और जलाये रखा। जब कोई भी छोटा-बड़ा समारोह होता था, दरी या जाजिम बिछाने से लेकर ऊपर तक के सारे काम वही करते थे। उनके कुछ सहयोगी थे, पर गाड़ी को खींचने के लिए इंजन तो पुत्तूलाल वर्मा ही थे। वह प्रायः कवि सम्मेलन, गोष्ठियां और सार्वजनिक सभाएं करते रहते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि मैंने उन्हें कभी बड़बड़ाते या किसी की शिकायत करते नहीं देखा। बड़ी शान्त प्रकृति के थे और हिन्दी के लिए उनका जीवन समर्पित रहा। अपने अन्तिम दिनों में वह दिल्ली छोड़कर अन्यत्र चले गए और वहीं उनका निधन हुआ।

दिल्ली भारत की राजधानी होने के साथ-साथ राजनीति का गढ़ थी। यहां बड़े-बड़े हिन्दू-मुस्लिम नेता थे। उनके सामने आजादी का ध्येय था, एक ही पार्टी प्रमुख थी, पर इन नेताओं में कभी-कभी रगड़ भी हो जाती थी। मतभेद होते थे, लेकिन मनभेद नहीं होते थे। उनके सामने एक महान आदर्श था न!

राजनेताओं के संघर्ष और राजनीति की उथल-पुथल देख-

कर मेरा मन राजनीति से और भी उदासीन हो जाता था। मुझे लगता था कि राजनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए आदमी की खाल मोटी होनी चाहिए। जिसकी खाल मोटी नहीं होती, वह राजनीति में टिक नहीं सकता। जिस प्रकार मैंने वकालत की ओर से मुंह मोड़ा था, उसी प्रकार राजनीति के दांवपेंच को देखकर उस ओर से मेरा मन विमुख होता गया। उस काल में कांग्रेस में वकीलों का प्राधान्य था और मैं वकालत-पास यदि चाहता तो बहुतों को पीछे धकेलकर आगे आ सकता था, पर वह मेरे लिए सम्भव नहीं था। मेरे स्वभाव के विपरीत था। जहां साफ-सुथरा जीवन था, छल-कपट नहीं था, ईर्ष्या-द्वेष नहीं था, वहां काम करने को मैं सदैव उद्यत रहता था। पर जहां सफाई नहीं थी, गन्दगी थी, वहां काम करना तो दूर, खड़े होने को भी मेरा जी नहीं करता था। मुझे लगता है कि यदि मैं उस समय से राजनीति में सक्रिय भाग लेता रहता तो स्वराज्य मिलने के उपरान्त शायद राजसत्ता में मेरी अपनी कोई जगह होती, लेकिन मैं यह भी अनुभव करता हूं कि तब मेरा जीवन कुछ दूसरी ही तरह का होता। जिन मानवीय मूल्यों में आस्था रखकर मैं आरम्भ से चला और आजतक चलता रहा हूं, वे तिरोहित हो गए होते।

किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है, "पालिटिक्स इज द गेम आफ स्काउन्ड्रल्स", अर्थात् राजनीति दुष्टों का खेल है। मेरी मान्यता है कि जिस प्रकार से सीधी उंगली से घी नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार सच्चे और ईमानदार लोग राजनीति को नहीं चला सकते।

६ / दिल्ली छूटी

दिल्ली की आबादी उन दिनों लगभग पांच लाख थी। भीड़भाड़ नहीं थी। यातायात की सुविधा थी और विशेष बात यह कि अपेक्षाकृत शान्ति का जीवन था। राजनैतिक गति-विधियां अकसर हलचल पैदा करती रहती थीं, लेकिन किसी प्रकार की बेचैनी नहीं थी। सस्ते का जमाना था और अधि-कांश लोगों की आमदनी सीमित थी। इसलिए पैसे अथवा सत्ता के साथ जो बुराइयां आती हैं, उनसे लोग प्रायः मुक्त थे। नागरिक जीवन अधिक सुरक्षित और अधिक निरापद था। काले धन का नाम भी उन दिनों सुनाई नहीं देता था। लोग मेहनत करते थे और जो कुछ मिल जाता था, उसी में संतोष कर लेते थे।

दिल्ली में मेरे चार वर्ष बीते, पर इनेगिने परिवारों को छोड़कर किसी के साथ मेरा घनिष्ठ नाता नहीं जुड़ा। जवाहर-लाल जी ने एक बार सार्वजनिक रूप में कहा था, "दिल्ली के आत्मा नहीं है, (डैल्ही हेज नो सोल)।" उनकी बात मुझे सोलहों आने सच लगती थी। मैं काम कर रहा था, पर मेरा मन दिल्ली में रमा नहीं था।

उसी समय मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया। बात यों हुई। सन् १९३६ में जब मैं इलाहाबाद में कानून की पढ़ाई कर रहा था, मैंने 'विशाल भारत' को एक कहानी भेजी थी। पत्र के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी थे। कुछ समय बाद वह

कहानी लौट आई। उसके साथ एक पत्र भी था। इस पत्र की शैली ने मेरा बड़ा मनोरंजन किया। ऊपर लिखा था 'प्रियवर' फिर सारा पत्र अंग्रेजी में था। बीच-बीच में एकाध शब्द हिन्दी में लिखा था और पत्र का अन्त किया गया था इन शब्दों से— 'विनीत, बनारसीदास चतुर्वेदी।"

इस पत्र से मुझे लगा कि उसके लेखक अवश्य ही सनकी होंगे। जब उन्होंने पूरा पत्र अंग्रेजी में लिखा था तो संबोधन और अन्त भी अंग्रेजी में ही कर सकते थे। पत्र के अक्षर मोती जैसे सुन्दर थे और हिन्दी-अंग्रेजी दोनों की लिखावट बहुत ही जमी हुई थी। इस चिट्ठी ने मेरा बनारसीदासजी से परोक्ष परिचय करा दिया।

इसके बाद तीन वर्ष बीत गए। एक दिन अकस्मात मामाजी ने मुझे बताया कि बनारसीदासजी यहां आये हुए हैं। चाहो तो उन्हें अपने विद्यापीठ में बुला लो। इसमें भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी! बनारसीदासजी नामी लेखकों में थे, उच्चकोटि के पत्रकार थे। उनका विद्यापीठ में आना मेरे लिए आनंद की ही बात होती। पर मैंने कहा, "वह आ जायेंगे ?" मामाजी बोले, "मैं उन्हें राजी कर लूंगा।"

हमलोगों ने रात को एक बजे तक सारी तैयारियां कीं। अखबारों को छापने के लिए समाचार पहुंचाया। किन्तु अगले दिन ११ बजे जब मामाजी लौटकर आए तो उन्होंने बड़े ही निराश स्वर में कहा, "बनारसीदासजी ने आने से इंकार कर दिया। कहते हैं, वह यहां आराम करने आए हैं, सभाओं में भाग लेने और भाषण देने नहीं।"

मैंने एक क्षण सोचा और झट प्रिंसीपल कंचनलता और उनकी वृद्ध माताजी को लेकर नई दिल्ली पहुंचा। वहां बहन

सत्यवती मल्लिक के घर बनारसीदासजी ठहरे हुए थे। अपने साथ मैं अखबारों की कतरनें भी लेता गया, जिनमें शाम ४ बजे उनके विद्यापीठ में आने का समाचार था।

जाकर मैंने धीरे से कहा, "देखिए, आपके न आने से हमारी बड़ी बदनामी होगी। लोग आवेंगे और कहेंगे कि हमने झूठ-मूठ को आपका नाम दे दिया।"

चतुर्वेदीजी हमारी कठिनाई को भांप गए। विनोद के स्वर में बोले, "तुमने मिठाई का इन्तजाम किया है या नहीं? हम तो चौबे ठहरे!"

मैंने कहा, "आप आइए तो सही, हमने खूब मिठाई का इन्तजाम किया है। आप जितनी चाहें, खाइए और साथ ले आइए।"

उन्होंने हंसते हुए आना स्वीकार कर लिया। वह आए और इतनी बढ़िया सभा हुई कि लोग बहुत दिनों तक उसकी याद करते रहे।

बनारसीदासजी 'विशाल भारत' छोड़ चुके थे और ओरछा-नरेश श्री वीर सिंह देव के अनुरोध पर कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में रह रहे थे।

समारोह के बाद अगले दिन शिष्टाचार के नाते मैं उनसे मिलने गया। बहन सत्यवतीजी के साथ मेरा बड़ा आत्मीयता-पूर्ण संबंध था। मेरे दिल्ली आने के पश्चात् जिन परिवारों से मेरी निकटता स्थापित हुई थी, उनमें एक परिवार उनका था। कुछ देर इधर-उधर की बातें करके मैं चला आया और बनारसीदासजी दो-एक दिन रुककर कुण्डेश्वर लौट गए।

इसके कुछ ही दिन बाद बनारसीदासजी का एक कार्ड मिला, जिसमें उन्होंने अपनी मिली-जुली भाषा-शैली में मुझे

कुण्डेश्वर आने का निमंत्रण दिया था। उस स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि हम यहां से 'मधुकर' नामक पत्रिका निकाल रहे हैं। आप एक महीने के लिए यहां आ जायं और जगह पसंद आवे तो रहने की सोच लें।

मेरा मन दिल्ली से ऊब ही रहा था। मैंने वहां जाने का निश्चय करने से पहले पूछताछ की तो जानकार लोगों ने कहा, "वहां जाकर क्या करोगे? बड़ी बियाबान जगह है और वहां कुछ भी नहीं मिलता।" मैंने बनारसीदासजी को लिखा कि वहां क्या-क्या मिलता है? उन्होंने उत्तर दिया कि आप स्वयं यहां आकर देख लीजिए। उन्होंने आने-जाने के किराए के रुपये तार से भेज दिये। मेरे हाथ में जो काम थे, मैंने उनको समेटा, हिन्दी विद्यापीठ को बंद किया और मैं कुण्डेश्वर के लिए रवाना हो गया। यह सन् १६४० के अक्तूबर महीने की बात है।

दिल्ली छोड़ने में बहुत जोर नहीं पड़ा, लेकिन मामी से बिछुड़ते समय दिल में हूक-सी उठी। उन्होंने चार वर्ष तक मुझे अपने बच्चे की तरह रक्खा था। उनके अपनी तीन लड़कियां और दो लड़के थे। हम सबके बीच उन्होंने कभी भेद नहीं किया। मुझे एक क्षण को भी यह अनुभव नहीं होने दिया कि मैं पराया हूं। उनमें मैंने एक गुण बहुत बड़ी मात्रा में पाया। वह कसकर शरीर से मेहनत करती थीं और बुद्धि की बारीकियों के लिए जाने-अनजाने समझ नहीं रखती थीं। जब कभी खीजतीं या क्रुद्ध होतीं तो उनकी खीज या क्रोध देर तक नहीं टिकता था। ममत्व वैसे मामाजी में भी था, पर उनका बुद्धि पक्ष अत्यन्त प्रबल था, जबकि मामी में हृदय-पक्ष का प्राधान्य था। मैं उन्हें जैसे ही समझाता, उनका पारा

तत्काल नीचे आ जाता। घर में हद दर्जे की तंगी थी; किन्तु मामी ने कभी अधिक कमाई के लिए मामाजी पर दबाव नहीं डाला और घर की आर्थिक परिस्थिति को लेकर कभी विद्रोह नहीं किया।

मामी को मेरा जाना बहुत अखरा, पर और कोई रास्ता नहीं था। उनकी आंखों से आंसू गिरते रहे। मेरा मन भी द्रवित हो गया। मामी का कुछ समय पूर्व अकस्मात देहान्त हो गया। उनकी याद करके आज भी मेरा मन भींग आता है।

७ / कुण्डेश्वर में छह वर्ष

कुण्डेश्वर पहुंचने के लिए सेन्ट्रल रेलवे के ललितपुर स्टेशन पर उतरना होता है। वहां से २८ मील पर कुण्डेश्वर है और फिर उससे आगे लगभग ४ मील पर टीकमगढ़, जो तत्कालीन ओरछा राज्य की राजधानी था। मैं ललितपुर स्टेशन पर उतरा। बनारसीदासजी ने ललितपुर नगर-निगम के सचिव श्री श्यामसुन्दर चतुर्वेदी को लिख दिया था और मुझे सूचित कर दिया था। स्टेशन से मैं सीधा उनके घर गया। उन्होंने मुझे जलपान कराया और बस में मेरे कुण्डेश्वर जाने का प्रबंध कर दिया। १२ बजे के करीब कुण्डेश्वर पहुंच गया। बनारसीदासजी मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने ओरछेश की विशाल कोठी में मुझे अपने साथ ठहराया। कोठी 'जमड़ार' नामक नदी के किनारे थी। उस नदी पर बांध बनाकर उसकी धारा को नीचे एक लम्बे-चौड़े जलाशय में गिराया गया था। बांध के ऊपर से गिरने वाला पानी छह धाराओं में विभक्त

था। उस प्रपात का कलकल-निनाद कोठी के कमरे में बैठे-बैठे हमें सुनाई देता था।

बनारसीदासजी सबसे पहले मुझे उसी प्रपात पर ले गए। वहां की प्राकृतिक सुषमा देखकर मेरा मन विभोर हो उठा। कुण्डेश्वर बुन्देलखण्ड (अब मध्य प्रदेश) का बहुत बड़ा तीर्थ हैं। वहां 'कूड़ादेव' (महादेव) का मंदिर है। स्थान की रमणीकता और तीर्थ-स्थान की धार्मिकता से खिचकर दूर-दूर के यात्री वहां आते हैं। कहावत है, 'लव एट फर्स्ट साइट' (पहली दृष्टि में ही प्रेम हो जाना), यही मेरे साथ हुआ। बचपन में प्रकृति-प्रेम के जो संस्कार मुझे मिले थे, वे उस स्थान को देखकर एकदम जाग्रत हो गए। बनारसीदासजी स्वयं प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। सवेरे उठते ही वह मुझे तथा अन्य व्यक्तियों को साथ लेते और वन-भ्रमण के लिए निकल पड़ते। जमड़ार जलाशय से आगे बढ़कर दो-ढाई मील पर एक दूसरी नदी 'जामनेर' में मिल जाती थी। संगम तक का सारा क्षेत्र घने जंगल से आच्छादित था। उसका नाम चतुर्वेदीजी ने 'मधुवन' रक्खा था। उसमें जंगली जानवर भी रहते थे। शाम को प्रायः चीतल आदि पानी पीने के लिए जलाशय पर आ जाते और उन्हें हम कोठी की ऊपरी मंजिल के अपने कमरों से देखकर आह्लादित होते।

दोपहर को हम कुण्ड (जलाशय) के किनारे तेल की मालिश करके खूब तैरते। शाम को फिर घूमने निकल जाते। बनारसीदासजी बातों के धनी थे। घूमते हुए वह दुनिया भर की बातें सुनाते और कोठी में लौट आने पर भी उनका वह क्रम बराबर चलता रहता।

एक महीना कैसे बीत गया, पता भी नहीं चला। उसके

बाद बनारसीदासजी ने कहा, "बोलिए, अब क्या इरादा है ? मेरा कोई दबाव नहीं है, लेकिन अगर आप ठहरने का निश्चय करेंगे तो मुझे खुशी होगी।"

मेरा मन उस सारे वातावरण से जुड़ गया था। इसलिए बिना दुविधा या संकोच के मैंने कहा, "मैं यहीं रहूंगा।"

एक महीना तो मेहमानदारी में बीता था। अब यह निश्चय हो जाने पर कि मुझे वहीं रहना है, मैंने अपना ध्यान काम की ओर किया। बनारसीदासजी उम्र में मेरे पिताजी के बराबर थे। मैं उन्हें 'चतुर्वेदीजी' कहा करता था। रहने का तय हो जाने पर सबसे पहले मैंने अपना संबोधन बदला। उनसे कहा, "मैं आपको 'दादाजी' कहा करूंगा।"

मेरी बात सुनकर वह कुछ दुविधा में पड़े। फिर बोले, "मेरा छोटा भाई पटे (रामनारायण) मुझे 'दादा' कहा करता था।"

मैं समझ गया कि उन्हें 'दादाजी' कहलवाने में हिचक क्यों हो रही थी। रामनारायण बड़े ही मेधावी युवक थे। अल्पायु में ही उनका निधन हो गया। उनकी पत्नी आजीवन अपनी दो लड़कियों और एक लड़के को लेकर दादाजी के साथ रहीं और सारे घर को बड़ी कुशलता से संभालती रहीं।

कुण्डेश्वर में मैं छह वर्ष रहा। उन वर्षों को मैंने अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष माना। मैं तो वहां यह सोचता हुआ पहुंचा था कि उस निर्जन स्थान पर कुछ भी नहीं मिलेगा, लेकिन वह मेरा भ्रम था। वहां सब चीजें मिल जाती थीं। बाद में तो मैंने एक लेख लिखा—'यहां होता क्या नहीं ?' लेख 'मधुकर' में छपा और दादाजी, मुझे बार-बार याद दिलाते रहे कि अपने एक पत्र में मैंने कितनी मजेदार बात पूछी थी कि वहां

क्या-क्या होता है।

'मधुकर' पत्र ने मुझे बड़ा संतोष दिया। उसके द्वारा हमने बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य, संस्कृति, कला, प्राकृतिक सौंदर्य, इतिहास, भूगोल आदि को लोकप्रिय बनाने में पूरी तरह से मदद की। उस प्रान्त में अनेक प्रतिभाएं छिपी पड़ी थीं। उन्हें हमने ढूंढ़कर बाहर निकाला। उनकी क्षमता किसी भी अखिल भारतीय ख्याति के लेखक से कम नहीं थी। उनसे हमने आग्रह-पूर्वक खूब लिखवाया।

पत्र के द्वारा कई आंदोलन चलाये, जिनमें प्रमुख आंदोलन प्रान्त-निर्माण का आंदोलन था। उसका मूल उद्देश्य यह था कि बुन्देलखण्ड को एक पृथक प्रान्त बनाया जाय, जिससे उसकी संस्कृति, कला, प्रकृति, लोक-साहित्य आदि को पूरी तरह प्रकाश में लाया जा सके।

प्रान्त-निर्माण के सिलसिले में बहुत-से नेता समय-समय पर वहां आते रहे। रचनात्मक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं का तो वह एक अच्छा खासा केन्द्र ही बन गया था। भाई जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी तथा श्री कृष्णानंद गुप्त वहां बुला लिये गए। कुछ समय श्री चतुर्भुज पाठक, जो बाद में मध्य भारत में और फिर मध्य प्रदेश का निर्माण हो जाने पर उसमें मंत्री रहे, प्रेम-नारायण खरे, जो वहां के अत्यन्त निष्ठावान रचनात्मक कार्य-कर्त्ताओं में थे, हमारे साथ रहे। दादाजी की कृपा से उस धर्म-स्थली पर साहित्य और संस्कृति की भी धाराएं प्रवाहित हो उठीं। हम सबने मिलकर उस प्रान्त की जो सेवा हो सकती थी, करने का प्रयत्न किया।

श्री कृष्णानंदजी ने एक नई पत्रिका 'लोकवार्त्ता' निकाली। 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' दोनों पत्रिकाएं खूब लोकप्रिय हुईं।

'मधुकर' के द्वारा जो आंदोलन हुए, उनमें एक आंदोलन टीकमगढ़ से १६ मील दूर 'अहार' नामक अतिशय जैन-तीर्थ के संबंध में था। वहां हमलोग एक दिन अनायास पहुंच गए थे। उस जगह पर बहुत बड़ी संख्या में जैन मूर्तियां इधर-उधर पड़ी थीं। बाईस फुट की शिला पर १८ फुट की भगवान शान्तिनाथ की इतनी विशाल और इतनी मनोज्ञ प्रतिमा थी कि जो भी देखता था, श्रद्धावनत हो जाता था। प्रतिमा का निर्माण विक्रम संवत् ११८० में पापट नाम के 'स्थापत्य-कला-विशारद्' ने किया था। प्रतिमा के शरीर का अनुपात और उसका कलापूर्ण सौंदर्य अद्भुत था। उसके बाएं पार्श्व में ग्यारह फुट की भगवान कुन्थुनाथ की और दाएं पार्श्व में अरहनाथ की उतनी ही बड़ी प्रतिमा थी। और भी बहुत-सी मूतियां थीं, जो एक कोठरी में भरी पड़ी थीं। सैकड़ों प्रतिमाएं इधर-उधर बिखरी हुई थीं। उन्हें देखकर मुझे लगा कि उनका संग्रह होना चाहिए। वहां एक पाठशाला भी थी, जिसके छात्रों को पूरी सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं। उनके कारण भी मेरा ध्यान उस गौरवशाली स्थान की ओर गया। दादाजी की प्रेरणा तो थी ही। निश्चय हुआ कि वहां एक संग्रहालय का निर्माण कराया जाय। इस निश्चय के अनुसार जून १९४४ में शांतिनाथ संग्रहालय के भवन की नींव डाली गई और नागपुर के ब्रह्मचारी फतेहचंदजी आदि के अथक परिश्रम तथा आर्थिक सहयोग से भवन पूरा हुआ। चौदह वर्ष के बाद, मार्च १९५८ में, दादाजी ने उसका उद्घाटन किया। आज उस संग्रहालय का भवन लाखों रुपये का है और उसमें डेढ-दो हजार ऐतिहासिक प्रतिमाओं का संग्रह है। अधिकांश मूर्त्तियां खंडित हैं, किन्तु ९० प्रतिशत प्रतिमाओं के नीचे आसन पर शिला-लेख उत्कीर्ण हैं।

अहार के निकट दो सागर जैसे जलाशय हैं। वर्षा के दिनों में दोनों जलाशय मिल जाते हैं और उनके बांध पर खड़े होकर चारों ओर की दृश्यावली देखने में अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है।

इस संग्रहालय के निकट दो मंदिर हैं। पुरातन मंदिर भगवान शान्तिनाथ का है। उसके पास ही बाहुबली का नवनिर्मित मंदिर है। अब तो वहां जैन विद्यापीठ का भवन तैयार हो रहा है। १९४६ में कुण्डेश्वर छोड़ने तक हमलोग बीसियों बार अहार गए, कभी पैदल, कभी बैलगाड़ी में, कभी मोटर में।

अहार में जो कुछ सेवा हुई, उसका श्रेय दादाजी ने अत्यंत उदारतापूर्वक मुझे दिया, लेकिन सच्चाई यह है कि उस सबके पीछे प्रेरणा दादाजी की ही थी और ब्रह्मचारी फतेहचंदजी ने तो उसके लिए रात-दिन एक कर दिया। लखनऊ के न्यायाधीश स्व. अजितप्रसाद जैन वहां आए, और भी अनेक गण्यमान्य महानुभावों ने उसमें सहयोग दिया। बाद में तो उस तीर्थ की इतनी ख्याति हुई कि देश के कोने-कोने से दर्शनार्थी वहां आए और आज भी आते रहते हैं। संग्रहालय के भवन के निर्माण में उसके व्यवस्थापक श्री घनश्यामदास कोठिया की सेवाएं भुलाई नहीं जा सकतीं।

हमलोगों ने 'मधुकर' के पृष्ठ अहार के लिए मुक्त भाव से खोल दिये। बाद में उनकी एक पुस्तिका प्रकाशित की। अहार-तीर्थ के प्रचार-प्रसार में इस पुस्तक तथा 'मधुकर' की महत्वपूर्ण भूमिका रही। संग्रहालय का कुछ काम अब भी शेष है, जो धीरे-धीरे पूरा हो रहा है।

दादाजी की बहुत बड़ी विशेषता है कि जहां कहीं रहते हैं, वहां कुछ-न-कुछ लोकोपयोगी कार्य अवश्य करते हैं। कलकत्ता

रहे तो शांतिनिकेतन में 'हिन्दी भवन' की स्थापना कराई, कुण्डेश्वर रहे तो वहां अनेक कार्य किये। उनमें अहार के संग्रहालय के अतिरिक्त 'प्रेमी अभिनन्दन-ग्रंथ' के संग्रह और प्रकाशन का काम भी था। जैन-समाज में श्री नाथूराम प्रेमी का नाम विख्यात है। उनकी प्रकाशन-संस्था 'हिन्दी ग्रंथ रत्नाकार' ने जो कार्य किया, वह बहुत थोड़े प्रकाशक कर पाये। प्रेमीजी उच्चकोटि के विद्वान भी थे। उनके लिए एक अभिनंदन ग्रंथ की योजना कुण्डेश्वर में ही बनी और उसका सारा कार्य भी वहीं पर हुआ। अर्थ-संग्रह के लिए मैं तो कई जगह गया ही, दादाजी ने भी कुछ स्थानों की यात्रा की। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, डा. हीरालाल जैन तथा अन्य अनेक महानुभावों ने उसके विभिन्न खंडों की सामग्री के संकलन में बड़ी मदद की। वासुदेवशरणजी ने तो पूरे ग्रंथ के सम्पादन में हाथ बंटाया। साहू शान्तिप्रसादजी ने उसकी छपाने की व्यवस्था इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस में करा दी और प्रेस के संचालक स्व. कृष्णप्रसाद दर ने ग्रंथ को बड़े कलापूर्ण ढंग से छापा।

सामग्री, छपाई, साज-सज्जा आदि की दृष्टि से उस ग्रंथ की सभी क्षेत्रों में सराहना हुई। उस समय तक जो अभिनंदन-ग्रंथ निकले थे, उनमें समीक्षकों ने 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ' को बहुत ऊंचा स्थान दिया।

इसी प्रकार 'वर्णी अभिनन्दन-ग्रंथ' की तैयारी में भी हमलोगों ने यथासंभव सहयोग दिया।

ओरछेश श्री वीर सिंह देव अपने ढंग के निराले व्यक्ति थे। वैसे तो वह शासक थे और उस राज्य के महाराजा थे, जो रुतबे में बुन्देलखण्ड के सारे राज्यों में सबसे बड़ा माना जाता था, किन्तु वह साहित्य के अनन्य प्रेमी थे। स्वयं उच्चकोटि के

लेखक थे। अपने ओरछा राज्य में उन्होंने 'वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्' की स्थापना की और उसके द्वारा 'देव पुरस्कार' चालू किया, जो उस समय का बहुत बड़ा और गौरवशाली पुरस्कार माना जाता था।

कुण्डेश्वर की सारी प्रवृत्तियों के पीछे उन्हीं की दूरदर्शिता थी। मैं जैसे ही कुण्डेश्वर पहुंचा था, दादाजी ने उन्हें सूचित कर दिया था। एक संध्या को वह आए और कोठी से निकलकर कुण्ड की सीढ़ियां उतरते हुए उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, "यशपालजी, यहां खूब अच्छी तरह रहिए और अगर कभी किसी चीज की जरूरत हो तो मुझे बता दीजिए।" मैं उनकी ओर देखता रह गया। उनमें शासक की कहीं गंध नहीं थी। अभिमान तो होना ही क्या था! हमारी प्रवृत्तियों पर उन्होंने लाखों रुपये खर्च किये; लेकिन भूलकर भी उन्होंने कभी इस बात को अपनी जबान पर नहीं आने दिया।

वह शाम को प्रायः कुण्डेश्वर आ जाते थे और काफी देर तक हम सबके बीच बैठकर बातें करते रहते थे, अपने अनुभव सुनाते रहते थे। उनकी सबसे बड़ी बात यह थी कि वह मुक्त पुरुष थे। अपने दोषों को भी बताने में हिचकिचाते नहीं थे। बड़े विनोदी थे, खूब हंसते थे और खूब हंसाते थे।

उनके बहुत-से अविस्मरणीय प्रसंग हैं लेकिन दो प्रसंगों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। एक बार वह अचानक कुण्डेश्वर आ गए। दादाजी का पाजामा सूख रहा था। उन्होंने झटपट उसे पहना। उसका कमरबंद नौकर ने निकाल दिया था। वह मिला नहीं। जल्दी में दादाजी ने कमरबंद की जगह सुतली बांध ली और आकर बैठ गए। बैठने में पेट पर जोर पड़ा तो सुतली टूट गयी। अब दादाजी ने पाजामे को हाथ से पकड़

लिया। महाराजा साहब ने यह देखा तो उनसे पूछा, "क्या बात है ?" दादाजी ने सारी बात बता दी। फिर तो मारे हंसी के सब लोट-पोट हो गए। महाराजा साहब ने कहा, "चौबेजी, जाओ, और पाजामे में नाड़ा डाल लाओ।"

एक दूसरा प्रसंग है उस समय का, जब स्व. नाथूराम प्रेमी वहां आए। महाराजा साहब का यह नियम था कि जब कोई अतिथि हमारे यहां आता तो महाराजा साहब स्वयं उससे मिलने आते थे। एक शाम को जब हम सब मिलकर बैठे तो प्रेमीजी ने कहा, "हम यहां यह सोचकर आए थे कि साहित्य और संस्कृति के लिए कुछ विशेष काम हुआ होगा, पर ऐसा दिखाई नहीं दिया।"

महाराजा साहब ने तत्काल उत्तर दिया, "प्रेमीजी, साहित्य और संस्कृति के काम मौलश्री के वृक्ष की भांति होते हैं। उनके जमने में समय लगता है। वे काम धीरे-धीरे होते हैं।"

महाराजा साहब के स्थान पर दूसरा कोई होता तो जवाब-तलब करता कि प्रेमीजी क्या कह रहे हैं, किन्तु उन्होंने स्वयं ही स्थिति संभाल ली।

दो अवसर ऐसे आए, जब महाराजा साहब ने मेरी बड़ी भारी मुसीबत कर दी। एक बार टीकमगढ़ में एक बहुत बड़ी सभा हो रही थी। महाराजा साहब मंच पर बैठे थे और मैं उनके ठीक सामने सोफे पर बैठा था। महाराजा साहब भाषण देने लगे। उन्होंने कहा, "हम बहुत-से काम ऐसे करते हैं, जिनसे लोगों का ज्ञान-वर्धन होता है। हम शिकार खेलते हैं और पशु-पक्षियों को मारकर उनमें से कुछ को संग्रहालय में जनता के ज्ञानवर्धन के लिए रखवा देते हैं। इसमें हिंसा क्या हुई ? क्यों, यशपालजी ?"

फिर बोले, "हमारे राज्य में सबसे अधिक शोषक जैन समाज के लोग करते हैं। वे लोगों को रुपया उधार देते हैं और खूब ब्याज वसूल करते हैं। यह शोषण का काम है न? क्यों, यशपालजी?"

इसके बाद उन्होंने और भी कई बातें ऐसी कहीं, जो जैन समाज को अप्रिय हो सकती थीं। और हर बात के अन्त में कहा, "क्यों, यशपालजी?" संयोग से वहां जैन बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। सभा समाप्त होने पर उन लोगों ने मुझे घेर लिया। बोले, "आपको महाराजा साहब का विरोध करना चाहिए था।" मैंने कहा, "क्यों? आखिर आप भी तो यहां थे। आपने विरोध क्यों नहीं किया?" पर वे तो उनकी प्रजा थे न!

एक-दो दिन बाद जब महाराजा साहब आए तो मैंने उन्हें वह किस्सा सुनाया। सुनकर वह खूब हंसे। बोले, "अच्छा हुआ, मैंने जान-बूझकर ही आपका नाम लिया था।"

एक दूसरा प्रसंग महावीर जयंती का था। जैन समाज ने कहा कि हम महाराजा साहब को उस समारोह में बुलाना चाहते हैं। मैंने कहा, मत बुलाइए। रात के आठ बजे का समय उनके पीने-पाने का होता है, पर वे लोग नहीं माने। मैंने महाराजा साहब से अनुरोध किया और वह आने के लिए राजी हो गए। वह आए। आते ही उन्होंने मुझसे कहा कि आप कुछ बातें एक कागज पर नोट कर दीजिए। उन्हीं के आधार मैं बोल दूंगा। मैंने उसी समय कुछ बातें लिखकर उन्हें दे दीं। कई विद्वानों के भाषण हुए। जब महाराजा के बोलने की बारी आई तो उन्होंने मेरा कागज हाथ में ले लिया और विद्वानों को संकेत करके बोले, "आपने कहा कि आदमी को चरित्रवान होना

चाहिए ? क्या मतलब है आपका ? चरित्र के मानी क्या हैं ? बोलिए।" फिर दूसरे विद्वान को लक्ष्य करके कहा, "आपने बताया कि जहां प्रकाश होता है वहां छाया नहीं होती, जहां छाया होती है, वहां प्रकाश नहीं होता। इसमें आपने नई बात क्या कही ? बोलिए।"

फिर इधर-उधर की और बातें कहकर उन्होंने अपनी टोपी उतारी और सिर पर हाथ मारकर कहा, "अरे, खोपड़ी से काम लो।"

बोलते में वह मेरे दिये हुए कागज को देखते जाते थे। लोगों ने मुझे वह कागज उन्हें देते देखा था। उनका यह समझना स्वाभाविक था कि महाराजा साहब को बहकाने में मेरा हाथ है। समारोह के खत्म होने पर महाराजा साहब तो चले गए। जैनियों ने मुझे आ पकड़ा। बोले, "यह सब आपकी करतूत है ?" संयोग से महाराजा साहब मेरे उस कागज को मसनद के किनारे छोड़ गए थे। मैंने वह कागज उन लोगों को दिखा दिया। उस पर लिखा था कि आप भगवान महावीर की अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के बारे में बोलिए। इस संबंध में कुछ और खुलासा कर दिया था। मैंने वह कागज उन लोगों को दिखा दिया। तब जान छूटी।

दो-तीन दिन बाद महाराजा साहब मिले तो हंसकर बोले, "क्यों, उस दिन कैसी बीती ?" मैंने उन्हें सारा किस्सा सुना दिया। बोले, "मुझे उस दिन शरारत सूझी थी।" पता नहीं बात क्या थी, पर मैं तो यही समझ रहा था कि वह नशे में थे।

कभी-कभी वह हमें किले में बुला लेते थे। एक बार हिन्दी के उपन्यासकार वृन्दावन लालजी वर्मा को, जो कुण्डेश्वर आये

हुए थे, और हम सबको किले में बुलाया। १२ बजे तक अच्छी-अच्छी बातें करते रहे, उसके बाद जो नशा चढ़ा तो अपने इतने दोष गिनाये कि हम चकित रह गए।

यदि तौलकर देखा जाय तो उनके गुणों का पलड़ा उनके दोषों की अपेक्षा कहीं अधिक भारी था। उन्होंने बहुत-से कवियों तथा साहित्य-सेवियों को भरपूर सहायता दी। वह अच्छे इंसान थे, अच्छे मित्र थे।

कुण्डेश्वर की एक घटना मेरे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। जब मैं इलाहाबाद में पढ़ाई कर रहा था, मैंने निश्चय किया था कि बाबूजी (श्री कामता प्रसादजी) की बड़ी लड़की आदर्श कुमारी से विवाह करूंगा। मैंने लॉ किया और आदर्श ने इण्टर। बाबूजी उससे दो-तीन महीने पहले इलाहाबाद छोड़कर अलीगढ़ चले आए। आदर्श और उसकी छोटी बहन ज्ञान को होस्टल में रख आये। परीक्षा देकर दोनों बहनें अलीगढ़ आ गईं। वहां आदर्श ने डेढ़ वर्ष एक स्थानीय स्कूल में काम करके आगरा में सी. टी. में प्रवेश ले लिया। दो वर्ष में सी. टी. करके गाजियाबाद के एक स्कूल में नौकरी की। यह सन् १९४१ की बात है। मैं टीकमगढ़ पहुंच गया था। वहां से किसी काम से मैं सन् १९४२ में दिल्ली गया। आदर्श को मैंने वहीं बुला लिया। दोनों ने मिलकर विवाह का निश्चय किया। मैं जैन हूं, आदर्श कायस्थ है, पर उनका परिवार ऐसा है कि उनके चौके में प्याज तक जाना निषिद्ध रहा है।

सिविल मैरिज के लिए चौदह दिन का नोटिस देना आवश्यक था। वह दिया और १९४२ की वसन्त पंचमी को विवाह करने का निश्चय किया। पर उस दिन अदालत की छुट्टी होने

के कारण अगला दिन तय हुआ।

हम दोनों को तो अदालत में जाना ही था, साथ में गवाही के लिए जो तीन महानुभाव गए, उनमें थे पं. सुन्दरलालजी, हिन्दी के यशस्वी लेखक और 'भारत में अंग्रेजी राज' के प्रणेता। दूसरे थे सुधीन्द्र, हिन्दी के सुविख्यात कवि। कुछ कारणों से मामाजी और मामी नहीं जा सके। २२ जनवरी १९४२ को हमलोग एक सूत्र में बन्ध गए। अपनी मंगल कामनाओं के रूप में रजिस्ट्रार ए. इस्सर ने हम दोनों को गुलाब का एक-एक फूल भेंट किया।

अगले दिन चांदनी चौक के लक्ष्मी रेस्तरां में पंडित सुन्दरलालजी ने प्रीतिभोज की व्यवस्था की। मैं पहले ही बता चुका हूं कि पंडितजी के साथ मेरा विद्यार्थी-काल से ही सम्बन्ध था।

चूंकि विवाह आदर्श के माता-पिता की सहमति से नहीं हुआ था, उनकी नाराजगी स्वाभाविक थी, पर आदर्श की सात बहनें और दोनों भाई हमलोगों से बराबर मिलते रहे। यह नाराजगी काफी समय तक चली, फिर दूर हो गई। आदर्श के पिताजी हमारी शादी के कुछ ही दिन बाद अलीगढ़ में डिप्टी कलक्टर हो गए।

विवाह के कुछ दिन बाद तक आदर्श ने गाजियाबाद की नौकरी को निभाया, अनंतर छोड़कर कुण्डेश्वर पहुंच गईं। सन् १९४३ के १० अक्तूबर को हमारी बेटी अन्नदा का जन्म हुआ और सन् १९४५ की ५ फरवरी को हमारे बेटे सुधीर का। विवाह और दोनों बच्चों के जन्म ने मुझे उस महान तीर्थ के साथ हमेशा के लिए गहरे स्नेह और आदर की डोर से बांध दिया। विवाह के कुछ समय पश्चात आदर्श टीकमगढ़ के कन्या विद्यालय में पढ़ाने का काम करने लगीं और वह कार्य मेरे कुण्डेश्वर

छोड़ देने के बाद भी कुछ दिनों तक चला।

कुण्डेश्वर के दिनों में मुझे सबसे बड़ा लाभ दादाजी और उनके परिवार के निकट सम्पर्क में आने से हुआ। अपने जीवन में मुझे बहुत-से व्यक्तियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला है, पर दादाजी जैसा व्यक्ति मुझे अबतक नहीं मिला। वह काफी समय तक गांधीजी के पास रहे थे, गुजरात विद्यापीठ में उन्होंने पढ़ाया था, फिर प्रवासी भारतीयों के लिए कार्य किया, पूर्वी अफ्रीका गए। अनेक महापुरुषों से उनके संबंध बने। इन्हीं कारणों से उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक हो गया। इन्दौर के डेली कालेज में ओरछा नरेश को उन्होंने पढ़ाया था, फिर 'विशाल भारत' के सम्पादक बने और उस मासिक पत्र के द्वारा हिन्दी के उन बहुत-से लेखकों को प्रोत्साहन दिया, जिन्होंने आगे चलकर हिन्दी-जगत में काफी नाम कमाया।

दादाजी की तीन विशेषताओं की मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी। उनमें पहली विशेषता थी सवेरे चार बजे उठकर उत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करना और जो विचार आवें, उन्हें नोट करना। उनके विचारों के रजिस्टरों और कागजों का अम्बार लग गया था। दूसरी विशेषता थी पत्र लिखना। अपने जीवन में उन्होंने लाखों पत्र लिखे होंगे। वह पत्रों द्वारा अच्छे-अच्छे विचारों के बीज चारों ओर बिखेरते रहते थे। किसी की कोई अच्छी रचना पढ़ते कि उसे तत्काल पत्र लिख देते। उनकी तीसरी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपनी और अपने घर की कभी चिंता नहीं की, किन्तु दूसरों की हमेशा मदद की। घर में चीनी नहीं है, कोई बात नहीं, जवान लड़कियां विवाह के लिए बैठी हैं तो क्या हुआ ! पर संकट-ग्रस्त व्यक्तियों के लिए उनकी

चिन्ता सीमा को पार कर जाती थी। मुझे याद है कि कई अस्वस्थ साधनहीन व्यक्तियों के लिए उन्होंने रात-दिन एक कर दिए थे। उनकी आर्थिक सहायता के लिए स्वयं तो पत्र लिखे ही, हमलोगों को भी प्रेरित किया कि हम अपने मित्रों को पत्र लिखें और मनीआर्डर फार्म भरकर भेज दें। इस प्रकार सैकड़ों रुपये उन लोगों को भिजवाये। कई सप्ताह तक हमारे सारे काम बन्द रहे। हिन्दी के किसी भी बड़े लेखक को मैंने इतना परदुःखकातर नहीं पाया।

फिर दादाजी में वात्सल्य भी बेहिसाब था, यद्यपि वह शब्दों में उसे प्रकट नहीं करते थे। हमारी लड़की अन्नदा जन्म के कुछ दिनों बाद बड़ी बीमार हो गई। दादाजी उसके पास बैठे रहे और उसे कर्पूरारिष्ट की बून्दें पानी में डालकर पिलाते रहे। जब अन्नदा ठीक हो गई तो उन्होंने विनोद में उसका नाम 'कपूरी' रख दिया।

दादाजी का कड़ा आदेश था कि दोपहर को भोजन करने के बाद कम-से-कम एक घण्टा आराम करो। नींद नहीं आए तब भी बिस्तर पर लेटे रहो। पर मुझे कभी-कभी टीकमगढ़ से कुछ लाना होता था तो चुपके से साईकिल उठाता था और चला जाता था। एक बार दादाजी ने अपने कमरे में से मुझे जाते हुए देख लिया। फिर क्या था! आवाज दी। उठकर बाहर आए और मुझसे बोले, "आप भी अच्छी हिमाकत करते हैं! इतनी धूप में कहीं जाने की जरूरत नहीं है। साईकिल रख दीजिये और जाकर आराम कीजिये।" अब जब दिल्ली में चिलचिलाती धूप या तेज वर्षा में या ठिठुरते जाड़े में दफ्तर जाता हूं तो कभी-कभी मेरे कान यह सुनने के लिए लालायित हो उठते हैं, "यशपालजी, इस समय कहीं मत जाइये, अपने

कमरे में जाकर आराम कीजिये ।" पर किसमें है, आज इतनी आत्मीयता !

दादाजी जबर्दस्त प्रचारक थे । जिस चीज के पीछे पड़ते थे, उसे सहज ही छोड़ते नहीं थे । उन्होंने अनेक साहित्यिक आंदोलन चलाये और उनके पीछे अपने महीनों खर्च किये ।

दादाजी ने मुझे और मेरे परिवार को इतनी आत्मीयता दी कि उसका स्मरण करके मुझे रोमांच हो जाता है । मेरे व्यक्तित्व के विकास में उन्होंने बड़ा योग दिया । वह बराबर इस बात का प्रयत्न करते रहे कि मेरा स्वतंत्र अस्तित्व बने । उनके प्रति आज भी मेरा मन बड़ी कृतज्ञता अनुभव करता है ।

मामाजी दिल्ली में एक प्रयोग करना चाहते थे । शारीरिक श्रम द्वारा कमाई करके जीवन व्यतीत करने की उनकी इच्छा थी । उन्होंने मुझे लिखा । दादाजी ने तत्काल सवैतनिक रूप में मुझे छुट्टी दे दी । यद्यपि वह प्रयोग कई कारणों से सफल नहीं हुआ, फिर भी दादाजी कई महीने तक मेरा वेतन दिल्ली भेजते रहे । लिखते थे, जब जी में आवे, वापस कुण्डेश्वर आ जाइये । मैं अपने परिवार के साथ दिल्ली आया था, और उस प्रयोग में महात्मा भगवानदीनजी भी शामिल थे । पर जब देखा कि वह प्रयोग ठीक से नहीं हो पा रहा है, तो मैं परिवार के साथ कुण्डेश्वर लौट गया । मेरी इतनी लम्बी अनुपस्थिति के सम्बन्ध में दादाजी ने एक शब्द तक नहीं कहा ।

एक बार दादाजी से बड़े जोर की लड़ाई हो गई । मैंने त्यागपत्र दे दिया और दादाजी को लिखा कि एक महीने बाद मैं अपने को मुक्त मान लूंगा । हमलोग एक ही मकान में रहते थे, पर सबके कमरे अलग-अलग थे । दादाजी ने मुझे लिखा कि इस तकलीफ को महीना और क्यों बढ़ाते हैं ? आइए, आज से

ही हम समान बन जायं। मैंने उत्तर दिया कि मेरे हाथ में काम है, जिसे पूरा करने में एक महीना लग जायगा।

दो दिन बाद दादाजी ने मुझे एक चिट भेजी—आखिर मैंने ऐसा क्या किया है, जो आपने मुझसे बोलना बन्द कर दिया है ? मैंने जवाब दिया—मैं मानसिक रूप से बहुत ही हैरान हूं और अनुभव करता हूं कि मुझे चुप रहना चाहिए।

थोड़ी देर बाद फिर एक चिट आई—मैं आपके साथ एक प्याला चाय पीना चाहता हूं। मैंने कुण्डेश्वर के छह वर्षों में कभी चाय नहीं पी थी। मैंने जवाब लिखा—मुझे खेद है कि मैं आपको चाय नहीं पिला सकता। दादाजी मेरी चाय न पीने की आदत को जानते थे। उन्होंने लिखा—अच्छा, एक प्याला दूध पिला दीजिए। मैंने जवाब दिया—ठीक है।

दादाजी मेरे कमरे में आए। मुझे लगा, दादाजी कितनी ऊंचाई पर हैं। उनके बड़प्पन को देखकर मुझे बड़ी लज्जा अनुभव हुई।

इसके बाद दादाजी के पूज्य पिताजी बहुत बीमार हो गए। दादाजी फीरोजाबाद चले गए। वहां से उन्होंने मुझे एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी पत्र लिखा—"यह चिट्ठी मैं कक्का की मृत्यु-शैया से लिख रहा हूं। सम्भव है, वह सवेरे तक जीवित न रहें। उनकी मृत्यु-शैया से मैं असत्य नहीं लिख सकता। मेरे अन्दर बहुत दोष हैं, बहुत कमियां हैं, पर मैंने उनको छिपाया नहीं है। मेरे मन में किसी के प्रति दुर्भावना नहीं है। आप मेरी बातों का बुरा न मानें और खूब खुश होकर रहें।" पत्र में और बहुत-सी बातें लिखी थीं। नीचे 'पुनश्च' करके लिखा था—कक्का चले गए।

पत्र पढ़कर मेरा दिल भर आया। सच यह है कि दादाजी

में प्रचार की अद्‌भुत क्षमता है। अपनी बातों को बार-बार दोहराते हैं। यह मुझे कभी-कभी बहुत खलता था। इस चीज को छोड़कर उनके और मेरे बीच कोई मतभेद नहीं हुआ। उन्होंने स्वयं अपना काम सदा पूरी आजादी के साथ किया था, कभी किसी की दखलंदाजी सहन नहीं की थी, वही व्यवहार उनका मेरे प्रति रहा। जो मेरे जी में आया, वही मैंने लिखा और जो मैं कहना चाहता था, वही मैंने कहा। मेरी वाणी और लेखनी को दादाजी ने हमेशा मान दिया।

फीरोजाबाद से लौटकर उन्होंने मेरे त्यागपत्र को फाड़ डाला।

कुण्डेश्वर मेरे लिए एक बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ। मेरी आत्मा को सुख मिला। मेरे जीवन की बुनियाद और पक्की हुई। स्वतन्त्रता का वास्तविक मूल्य समझा। मानवीय मूल्यों में मेरी आस्था और गहरी हुई। दादाजी ने अपने जीवन से मुझे बताया कि व्यक्ति के लिए सबसे मूल्यवान चीज कण्ठ की स्वाधीनता है।

कुछपरिस्थितियां ऐसी पैदा हुईं कि 'मधुकर' बंद कर दिया गया। शासन में कुछ लोग थे, जिन्हें कुण्डेश्वर की स्वतन्त्रता पसन्द नहीं आती थी। वह रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का शक्तिशाली केन्द्र बन गया था। ये कार्यकर्त्ता स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध थे। उन्होंने उसके लिए बहुत कष्ट उठाए थे। पर ज्यों-ज्यों उनका दमन हुआ, उनकी तेजस्विता और बढ़ गई। फिर आजादी का सूर्य उदय होने वाला था। यह सन् १९४६ की बात है।

मामाजी मुझे बार-बार लिख रहे थे कि वह 'भारतीय साहित्य परिषद्' करना चाहते हैं। मैं दिल्ली जल्दी-से-जल्दी

आ जाऊं। वह सन् १९३८ में 'हिन्दी परिषद्' कर चुके थे और अब उनकी निगाह एक विशाल आयोजन पर थी। वह चाहते थे कि सारी भारतीय भाषाओं को एक मंच मिले और उनके लेखक संगठित हों।

जहां मैंने जीवन के छह अत्यन्त सुखद वर्ष व्यतीत किए थे और जो मेरे बच्चों की पवित्र जन्मभूमि थी, जिसकी प्रकृति ने मेरे जीवन को समृद्ध किया था, और जहां मैंने दादाजी का भरपूर दुलार और आत्मीयता पाई थी, उसे प्रणाम करके मैं सपरिवार फिर दिल्ली आ गया।

८ / दिल्ली में पुनरागमन

सन् १९४६ से अबतक दिल्ली में हूं। मामाजी ने जिस कांफ्रेंस के लिए लिखा था, उसकी पूरी तैयारियां हो गईं। उसके लिए हमलोगों ने बड़ा परिश्रम किया, लेकिन वह कांफ्रेंस नहीं हो सकी। दिल्ली में साम्प्रदायिक दंगे हो गए। उन्माद इतना बढ़ा कि जान का कोई मूल्य न रहा। कांफ्रेंस को स्थगित कर देना पड़ा। पर मैंने देखा कि कोई भी अच्छा काम करो, उसमें अड़ंगा डालने वाले कुछ स्वार्थी और महत्वकांक्षी तत्व उभर ही आते हैं। मैं कांफ्रेंस का कार्यालय मन्त्री था। अपने को प्रगतिशील कहने वाले कुछ लोग आए और उन्होंने हरचन्द कोशिश की कि मैं अपने पद से त्यागपत्र दे दूं, लेकिन ज्यों-ज्यों उनकी चुनौतियां बढ़ती गयीं, त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता में भी वृद्धि होती गई और अन्त में उन्होंने समझ लिया कि मुझसे पार पाना आसान नहीं है। मेरे इस्तीफा देने का

मतलब था सारी चीज उनके हाथ में चली जाना, पर वह संभव नहीं हुआ और तब वे हारकर बैठ गए।

वे दिन बड़े भयंकर थे। दिल्ली की सड़कों पर लाशें पड़ी देखी जा सकती थीं। जिस साम्प्रदायिक एकता के लिए गांधीजी ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी, वह एकता हवा में उड़ गई थी। हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे की जान के दुश्मन हो गए थे।

इसी बीच कांग्रेस महासभा की बैठक हुई। उसमें पत्रकार के रूप में मैं भी शामिल हुआ। वह दृश्य मैं भूल नहीं पाता। रात का समय था। गांधीजी को लाया गया। वह आए और मंच पर आसीन हो गए। उनका चेहरा बड़ा ही व्यथित था। बड़ी धीमी आवाज में उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सार यह था कि आप सब जानते हैं, मैं भारत विभाजन के विरुद्ध रहा हूं। मैंने तो यहां तक कहा था कि मेरे शरीर के टुकड़े हो जायंगे, लेकिन हिन्दुस्तान की तकसीम नहीं होगी। पर वर्किग कमेटी ने विभाजन का प्रस्ताव इस उम्मीद में मंजूर कर लिया है कि आप उसका समर्थन करेंगे। अगर आप उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं तो वर्किग कमेटी के लिए जरूरी हो जाता है कि वह इस्तीफा दे दे और तब आपको अपनी नई वर्किग कमेटी बनानी होगी। अब आप देख लें।

यह एक ऐसा कानूनी मुद्दा था, जिसने ए. आई. सी. सी. के सदस्यों के मन में दुविधा पैदा कर दी। वर्किग कमेटी में जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्रबाबू, सरदार पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद प्रभृति सभी बड़े नेता थे। उन्हें छोड़कर प्रभावशाली वर्किग कमेटी का नया गठन हो नहीं सकता था।

लेकिन अगले दिन राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का बड़ा

हृदयस्पर्शी भाषण हुआ। उन्होंने कहा, "इस प्रस्ताव को कदापि स्वीकार न कीजिए। ज्यादा-से-ज्यादा यही होगा न कि आजादी कुछ दिन के लिए टल जायगी। लेकिन विभाजन से हमेशा के लिए मुसीबत हो जायगी।" उन्होंने पूरी ताकत से प्रस्ताव का विरोध किया। बैठक में जयप्रकाश नारायण तथा राम मनोहर लोहिया भी उपस्थित थे। वे चुप रहे। प्रस्ताव बहुमत से पारित हो गया। विश्व के मानचित्र पर एक नया देश पाकिस्तान आ गया। एक और अखण्ड भारत बंट गया, उसके दो टुकड़े हो गए। लाखों-करोड़ों लोगों की अदला-बदली हुई। भारत से करोड़ों लोग पाकिस्तान गए, वहां से करोड़ों लोग भारत आए। १४-१५ अगस्त १९४७ की अर्धरात्रि को भारत स्वाधीन हो गया।

लम्बी दासता की मजबूत कड़ियां टूट गईं, भारत के कंधे पर से विदेशी सत्ता का जुआ उतर गया, विदेशी शासकों की जगह भारतीय शासकों ने ले ली, यह बड़े वर्ष की बात थी, लेकिन साम्प्रदायिक वैमनस्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। लाखों हिन्दू मारे गए, लाखों मुसलमान मारे गये। भारतीय इतिहास का वह एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय था।

स्वराज्य की घोषणा करते हुए जवाहरलालजी का भाषण हुआ, बाद में तिरंगा झण्डा फहराया गया; लेकिन वह आनंद अमिश्रित नहीं था। गांधीजी उस समय नोआखाली में दुःखियों के आंसू पोंछते हुए पैदल घूम रहे थे।

उसके बाद देश में जो हुआ, उसे सब जानते हैं। गांधीजी की निर्मम हत्या ने भारत और दुनियां को झकझोर डाला। पर उनका बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों की आत्मा को जाग्रत कर दिया।

९ / 'सस्ता साहित्य मण्डल' में पुनः प्रवेश

'भारतीय साहित्य परिषद्' के स्थगित होते ही मैं 'सस्ता साहित्य मण्डल' में पहुंच गया। हमने अनुभव किया कि गांधी-विचारधारा को व्यापक रूप में प्रसारित करने के लिए उनके साहित्य को विधिवत् रूप में अनेक खण्डों में प्रकाशित करना चाहिए। इसके पीछे मुख्य प्रेरणा स्व. महाबीर प्रसाद पोद्दार की थी जो 'मण्डल' के आद्य-संस्थापकों में से थे।

काम बहुत बड़ा था और श्रम-साध्य था। पर हमलोगों ने कमर कस ली। कागज के लिए साधन स्व. घनश्यामदास बिरला ने जुटा दिए और हमलोग जी-जान से उसमें जुट गए। एक के बाद एक कुछ ही समय में हमने दस भाग प्रकाशित कर दिये। उन्हें पाठकों ने बहुत पसन्द किया, लेकिन आगे चलकर वह काम रुक गया। बीस खण्ड निकालने का विचार था, लेकिन भारत सरकार ने इस काम को शुरू कर दिया। 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' के नाम से उसने हिन्दी-अंग्रेजी में तिथि-क्रम से इस सामग्री को निकाला और सस्ते मूल्य में।

इस ग्रंथमाला के अतिरिक्त और बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। गांधीजी की मूल विचारधारा को सुरक्षित रखकर अनेक नये विषयों का समावेश किया।

गांधीजी के उत्सर्ग के बाद विनोबा के सुझाव पर सारी रचनात्मक संस्थाएं संगठित करके 'सर्व सेवा संघ' की रचना की गई। इतना ही नहीं, गांधीजी के भाईचारे में विश्वास रखने वालों का सर्वोदय समाज बना, जिसके देश के विभिन्न

भागों में वार्षिक अधिवेशन होते थे। मैं अधिकांश अधिवेशनों में शामिल हुआ। पहला सम्मेलन इंदौर के पास राऊ में हुआ था। उसमें भी मैं शरीक हुआ था। विनोबा बाबा का उत्साह देखने योग्य था। भारत-विभाजन के बाद विस्थापितों को बसाने की समस्या बड़ी विकट थी। जो लोग पाकिस्तान से आए थे, वे अपना सबकुछ वहां छोड़ आए थे। उनके मन में बड़ा क्षोभ था, असंतोष था। उस पर मरहम लगाने की आवश्यकता थी। विनोबा मेवों के बोच गए और उन्हें सांत्वना दी, किन्तु उनके काम में कुछ सरकारी दखलंदाजी हुई तो विनोबा उस काम को छोड़कर अपने आश्रम पवनार में वापस चले गए।

संयोग से १९५१ में भूदान की गंगा प्रवाहित हो गई। बाबा विनोबा ने सारे देश की परिक्रमा की और लाखों एकड़ भूमि उन्हें मिली। प्रेम का ऐसा करिश्मा पहले कभी देखने में नहीं आया था। विनोबा के पास कोई भी भौतिक बल नहीं था, केवल प्रेम की शक्ति थी।

मुझे लगा कि उस अहिंसक क्रान्ति की बड़ी सम्भावनाएं हैं। मैं बीच-बीच में विनोबा के साथ भूदान-यज्ञ में सम्मिलित होता रहा। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित की। उनकी पुस्तक 'गीता प्रवचन' तो बेहद लोकप्रिय हुई है। २८० पृष्ठ की उस पुस्तक का मूल्य हमने १.२५ रु. रक्खा। था एक दिन विनोबाजी ने हंसकर कहा, "यशपालजी, १.२५ रु. मूल्य बड़ा असुविधाजनक है। या तो कोई आदमी रुपये के साथ चार आने लावे, अथवा आपके पास बारह आने हों।"

उनका संकेत मैंने समझ लिया और उसी समय मूल्य एक रुपया कर दिया।

सर्वोदय सम्मेलन के उनके उद्घाटन और समापन-व्याख्यानों का संग्रह छापा, किशोरोपयोगी लेखों का एक संकलन प्रकाशित किया।

अपने भूदान-यज्ञ की पद-यात्रा में विनोबा रोज दो-तीन बार बोलते थे और हर बार नई बात कहते थे या पुरानी बातों को नये ढंग से कहते थे। साथ-साथ चलते हुए विनोबा से विभिन्न विषयों की खूब बातें होती थीं। एक दिन मैंने पूछा, "आप इतनी मौलिक बातें रोज कैसे कहते हैं?"

विनोबा ने मुस्कराकर कहा, "पैदल जो चलता हूं। मनुष्य जितना धरती और प्रकृति के निकट रहता है, उतनी ही उसे नई-नई बातें सूझती हैं।"

विनोबा के बारे में मैं इतना जानता था कि वह परम ज्ञानी हैं, पर वह अत्यन्त संवेदनशील और विनोदी हैं, यह मैंने उनके निकट रहकर ही जाना।

उनके लिए बाद में बड़े आकार का एक बृहद ग्रन्थ ५०० पृष्ठ का तैयार किया—'विनोबा : व्यक्तित्व और विचार'। इस ग्रन्थ को सभी क्षेत्रों में बहुत ही पसन्द किया गया। उसमें विनोबा के तेजस्वी व्यक्तित्व की झांकी तो है ही, उनके विचारों का भी दर्शन है।

अपने जीवन में विनोबा ने बहुत कुछ दिया, पर हमारा पात्र इतना उथला था कि हम उनसे कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाए। शासन ने उनका भरपूर उपयोग किया, लेकिन उनके मार्ग से कोसों दूर रहा। देश ने उन्हें श्रद्धा दी, पर उनकी बात नहीं मानी। उन्होंने जीवन भर कुछ नहीं चाहा। अपनी उतरती वय में दो बातों की आकांक्षा की : १. शराबबन्दी हो। २. गो-वध पर पाबन्दी लगे। गो-वध निषेध के लिए तो उन्होंने

अनशन तक किया, किन्तु सरकार वचन देकर भी उसका पालन नहीं कर सकी। मैं क्या, सारा देश देखता था कि विनोबा का हृदय कितना चीत्कार करता है, पर बहरे कानों ने उनकी बात नहीं सुनी और वह युग-पुरुष अपनी आंखों से देखता रहा कि शराब की नदियां और चौड़ी, और गहरी, होती गईं, कटने वाली गायों की संख्या पहले से कई गुनी अधिक हो गई।

विनोबा की व्यथा का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि कलकत्ता में उन्होंने अपने प्रवचन में कहा था, "मन होता है, कसाईघर में जाकर मैं कट जाऊं।"

उन्होंने जो कुछ कहा था, अपने मरने के लिए नहीं कहा था, देश के, मानव-जाति के, भले के लिए कहा था पर मानवता तो जैसे सुप्त हो गई थी।

अपनी आत्मा की पुकार सुनाते-सुनाते विनोबा चले गए। गांधी को गोली मारकर मानवता रंक हो गई थी, विनोबा को खोकर उसने अपनी कृतघ्नता का, अपनी हृदयहीनता का, परिचय दिया।

गांधीजी के विचार जन-जन तक पहुंचें, इस सम्बन्ध में हमलोगों का चिन्तन बराबर चलता था। उसी चिन्तन के फलस्वरूप सन् १९५१ से 'गांधी डायरी' का प्रकाशन आरम्भ किया, जो अबतक निकल रही है। वैसे कहने को तो वह डायरी है, पर हमने उसमें बापू की प्रार्थनाएं, एकादश व्रत, रचनात्मक कार्यक्रम, उनके प्रिय भजन, उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं की तालिका आदि बातें तो दीं ही, प्रत्येक तिथि पर उनका उसी दिन का बोला या लिखा एक वचन भी दिया। बड़ी मेहनत की, परिश्रम सफल हुआ। आज की डायरियों में लोगों ने उसे सर्वश्रेष्ठ माना।

इस डायरी के प्रकाशन से पहले गांधीजी की स्वयं की तथा उनकी विचार-धारा से सम्बन्धित दूसरों की लिखी बहुत-सी पुस्तकें निकालीं। सबसे अधिक बल हमारा इस तथा इसी प्रकार के साहित्य पर रहा।

गांधीजी विकासशील थे। प्रत्येक क्षण आगे बढ़ते रहे। उनके विचार विकसित होते गए। प्रत्येक क्षण को उन्होंने जिया और उसमें से नए अनुभव ग्रहण किए। उनके बहुत-से विचारों में परिवर्तन आया, लेकिन जहां तक शाश्वत सिद्धांतों का प्रश्न है, उनमें किसी तरह की कोई तब्दीली नहीं हुई। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के सम्बन्ध में उनके विचार अन्त तक यथापूर्व रहे। सन् १९०९ में उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' लिखी। बाद में उन्होंने उसमें एक शब्द भी नहीं बदला।

गांधी और विनोबा मेरे जीवन की प्रेरक शक्ति रहे, आज भी हैं।

१० / नया दायित्व

'मण्डल' के साथ मेरा सम्बन्ध सन् १९३७ के आसपास जुड़ा था, जो १९४० तक चला था। उसके बाद सन् १९४६ में मैं 'मण्डल' में फिर आ गया और अबतक हूं। इन चौवालीस वर्षों में प्रारम्भिक चार वर्ष में पुस्तकों के अनुवाद और सम्पादन तथा ऐसे ही कुछ कार्यों में मेरा योग रहा; लेकिन १९४६ के बाद इन कार्यों में तो हाथ बंटाया ही, साथ ही संस्था के विकास में भी सहायता की। मैं यह हृदय से स्वीकार करता

हूं कि इस संस्था के निर्माण में जिन व्यक्तियों ने अपनी विलक्षण सूझबूझ दिखाई और शुरू के दिनों में अथक परिश्रम किया, उनमें स्व. जीतमल लूणिया का, जिन्हें सब 'मालक' कहकर सम्बोधित करते थे, स्थान अग्रणी था। प्रेरणा महात्मा गांधी की थी, बीजारोपण स्व. जमनालाल बजाज ने किया, उसकी साज-संवार सर्वश्री घनश्यामदास बिरला, हरिभाऊ उपाध्याय (दा साहब), महाबीर प्रसाद पोद्दार (ताऊजी) आदि ने की, लेकिन उसे खाद-पानी दिया मालक ने। वह कई वर्ष तक 'मण्डल' के मन्त्री रहे।

जब 'मण्डल' का कार्यालय सन् १९३४ में अजमेर से दिल्ली आया तो मालक अजमेर छोड़ने की स्थिति में नहीं थे। तब संस्था का दायित्व आया श्री मार्तण्डजी उपाध्याय के कंधों पर, और उस दायित्व का निर्वाह मार्तण्डजी ने जिस त्याग-तपस्या से किया, उसका स्मरण करके हृदय रोमांचित हो उठता है। एक प्रकार से उन्होंने 'मण्डल' के काम में अपने को होम दिया। एकाग्र निष्ठा से उसमें जुटे रहे। स्कूली शिक्षा उन्होंने अधिक नहीं पाई थी, किन्तु अपने परिश्रम से इतनी योग्यता प्राप्त कर ली थी कि क्या अनुवाद, क्या सम्पादन और क्या पुस्तकों का चुनाव, इस सबमें बहुत कम लोग उनका मुकाबला कर सकते थे। वह अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, मराठी और गुजराती अच्छी तरह जानते थे।

उनकी पीठ पर दा साहब थे। दा साहब का राजनैतिक तथा रचनात्मक दोनों क्षेत्रों में बड़ा मान था। गांधी-विचारधारा के वह प्रमुख व्याख्याता थे। अच्छे लेखक थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि दोनों भाई लोक-संग्रही थे। उन्होंने अजमेर में और बाद में दिल्ली में अपने सहयोगियों की एक बहुत बड़ी

टीम तैयार कर ली थी। मालक भी अपने जीवन के अन्त तक सहयोगी रहे।

डा. राजेन्द्र प्रसाद 'मण्डल' के आरम्भ से ही उसके प्रधान संरक्षक और श्री घनश्यामदास बिरला उसके अध्यक्ष रहे। जब राजेन्द्रबाबू राष्ट्रपति हो गए और उन्होंने सभी स्वयं-सेवी संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया तो 'मण्डल' से उनके हटने पर घनश्यामदासजी प्रधान संरक्षक हो गए और आखिरी समय तक उस पद पर बने रहे। अध्यक्ष श्री भागीरथ कानोडिया हुए। उनके निधन के पश्चात उस पद पर श्रीलक्ष्मी निवास बिरला आये और अभी तक वही उस दायित्व को संभाले हुए हैं।

स्व. महाबीर प्रसाद पोद्दार 'मण्डल' के आद्यसंस्थापकों में से थे। वह उसके काम में बराबर गहरी दिलचस्पी लेते रहे और सक्रिय सहयोग देते रहे। 'मण्डल' के कार्य-विस्तार में उनका योग भी उल्लेखनीय है। सर्वश्री बैजनाथ महोदय, वियोगी हरि, कमलनयन बजाज, काशिनाथ त्रिवेदी, रामनाथ सुमन, मुकुटबिहारी वर्मा, शंकरलाल (मामाजी), शोभालाल गुप्त आदि-आदि दर्जनों व्यक्ति 'मण्डल' के अंग बने। बीसियों लेखक जुटे और 'मण्डल' उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। उसमें अत्यंत निष्ठापूर्वक मदद की अनेक छोटे-बड़े कार्यकर्त्ताओं ने। उन सबके नाम गिनाना सम्भव नहीं है। पर उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। उसने अबतक विविध विषयों की लगभग दो हजार पुस्तकें निकाली हैं, जिन्होंने पाठकों की रुचि को परिष्कृत किया है।

सन् १९४६ में जब मैं पुनः 'मण्डल' में आया तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि अन्ततोगत्वा 'मण्डल' का दायित्व

मेरे ऊपर आवेगा। सोचता था कि 'मण्डल' की आर्थिक कठिनाइयों को कुछ हद तक दूर करवाकर मैं मुक्त हो जाऊंगा, पर प्रभु को कुछ और ही मंजूर था। ज्यों-ज्यों 'मण्डल' का काम बढ़ता गया, मैं उसमें फंसता गया। अपनी अस्वस्थता के कारण जब मार्तण्डजी ने सन् १९७५ में अवकाश ग्रहण किया, तो न चाहते हुए भी मन्त्री का पद मुझे सम्भालना पड़ा और अबतक सम्भाले हुए हूं।

'मण्डल' के अपने चौवालीस वर्ष के कार्य-काल में सभी तरह के अनुभव हुए। मैं मानता हूं कि लम्बे अर्से तक किसी भी संस्था का कुशलता और सफलता से संचालन करना आसान नहीं है; किन्तु मैं यह भी मानता हूं कि ईमानदारी और सूझबूझ के साथ कार्य किया जाय तो वांछित फल अवश्य मिलता है।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि 'मण्डल' ने देश की बड़ी सेवा की है और आज भी कर रहा है, भले ही उसका उचित मूल्यांकन न हुआ हो। उसने भारतीय तथा विदेशी नेताओं, चिन्तकों, लेखकों और समाज-सेवियों आदि का जो साहित्य प्रकाशित किया है, वह सात्विक और चरित्र-निर्माणकारी तो है ही, ज्ञानवर्द्धक भी है।

अजमेर में 'मंडल' से 'त्यागभूमि' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई थी। विदेशी सरकार ने उससे जमानत मांगी और वह बंद कर दी गई। सन् १९४० से 'जीवन साहित्य' नामक मासिक पत्र आरम्भ हुआ, जिसके कुछ समय तक हरिभाऊजी उपाध्याय और डा. सुधीन्द्र सम्पादक थे। सन् १९४६ में मेरे आ जाने पर हरिभाऊजी और मैं सम्पादक हो गए। हरिभाऊजी का निधन हो जाने पर मैं अकेला ही उसका सम्पादक रहा और

आज भी हूं। इस पत्रिका ने भी अपनी भूमिका अच्छी तरह निभाई और अब भी निभा रही है। उसके सामान्य अंकों में तो विचार-पूर्ण सामग्री रहती ही है, उसके बीसियों विशेषांक निकले हैं, जिन्हें पाठकों ने सहेजकर रक्खा है और उनकी मांग बराबर होती रहती है।

आज की पत्रिकाओं से वह भिन्न है। उसमें न भड़कीली कविताएं रहती हैं और न वासनोत्तेजक कहानियां और लेख। उसके सामने एक ध्येय है, एक आदर्श है, उसी को लेकर यह पत्र चलता रहा है। अब भी चल रहा है।

ऐसी पत्रिकाओं और साहित्य का रास्ता बड़ा कठिन है। देश के आजाद होने के बाद इन ४० वर्षों में विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है, लेकिन बहुत कम साहित्य ऐसा निकला है, जो पाठकों के चिन्तन को प्रोत्साहित करे। यही कारण है कि गंभीर साहित्य आज भी पढ़ा नहीं जाता, पढ़वाया जाता है। हल्का-फुल्का उपन्यास लाखों की संख्या में बिक जाता है, जबकि स्वस्थ जीवनोपयोगी पुस्तक मुश्किल से दस-पांच हजार बिक पाती है। किसी-किसी पुस्तक की तो हजार प्रतियां भी नहीं खप पातीं।

हमारे देश में एक तो साक्षरों की संख्या बहुत सीमित है। जो पढ़े-लिखे हैं, वे भी उत्तम, विचारपूर्ण तथा प्रेरक साहित्य में रुचि नहीं रखते। परिणाम यह है कि सत्साहित्य का स्रोत धीरे-धीरे सूख रहा है और चिन्तन का देश में भारी अकाल पड़ गया हे। कहा गया है कि विद्या-दान सर्वोत्तम दान है, किन्तु उसे लेने वाले आज बहुत थोड़े हैं।

भारत बहुत बड़ा देश है। उसकी समस्याएं बहुत बड़ी हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आज सारी समस्याएं राजनीति

से प्रभावित हैं। छोटे-से-छोटे मसले में भी राजनीति घुस आती है और वह पेचीदा बन जाता है। आज सैकड़ों मसले राजनीति ने उलझा रक्खे हैं। पर मैं आशा करता हूं कि भविष्य में हमारा विवेक जाग्रत होगा और तब चिन्तन की प्रक्रिया तीव्र होगी।

'मण्डल' के विकास में मेरी भूमिका क्या रही और है, इस विषय में मेरा कुछ भी कहना उचित नहीं है। इसका मूल्यांकन दूसरे लोग करेंगे, समय करेगा, लेकिन इतना मैं अन्तःकरण की साक्षी देकर कह सकता हूं कि मैंने अपने कर्त्तव्य का पूरी निष्ठा से निर्वाह किया है और कर रहा हूं। जो जी में आया है, वह मैंने लिखा है, जो जी में नहीं आया, उसे लिखने की बाध्यता मैंने कभी स्वीकार नहीं की।

मेरी मान्यता है कि चिरजीवी साहित्य वही होता है, जो अंतर से उपजता है और जिसके सृजन में लेखक की अपनी प्रेरणा होती है। बाहरी डंडे के जोर पर जो साहित्य लिखा जाता है, वह बड़ा निष्प्राण होता है, अधिक दिन टिकता नहीं।

'मण्डल' से केवल वही साहित्य निकला है, जो किसी के आदेश पर नहीं रचा गया है। उसमें इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि वह पाठकों की रुचि को गिराये नहीं, ऊपर उठावे।

११ / देश-विदेश में प्रवास

देश में

आदि गुरु शंकराचार्य ने देश के चारों छोरों पर चार मठ स्थापित किये। उत्तर में बदरीनाथ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारका। इसके पीछे उनका

मुख्य उद्देश्य यह था कि इन तीर्थों की यात्रा करने के बहाने देशवासी सम्पूर्ण भारत के दर्शन कर लें। जानने के लिए देखना आवश्यक होता है। जो लोग अपने देश को जानना चाहते हैं, उन्हें उसको अपनी आंखों से देखना चाहिए।

सन् १९४६ से पहले और उसके पश्चात मैंने अपने सारे देश की कई बार परिक्रमा की। सभी यात्राओं में मेरा ज्ञान-वर्धन तो हुआ ही, नए अनुभव भी प्राप्त हुए। यद्यपि राजनीति ने देश को कुछ और ही रूप दे दिया है, तथापि उसकी आत्मा एक और अखण्ड दिखाई दी। भारत बहुत बड़ा देश है, उसमें अनेक भाषाएं हैं, अनेक संस्कृतियां हैं, रहन-सहन में भिन्नता है, आचार अलग-अलग हैं, परन्तु कुछ है, जिसने देश को एक और अखण्ड बनाए रक्खा है।

यह मूलभूत एकता मुझे अपने प्रवासों में स्पष्ट दिखाई दी। उत्तर भारत और दक्षिण भारत, पूर्व और पश्चिम, यह तो विभाजन हमारा किया हुआ है, वास्तव में देश की आत्मा एक है। यही कारण है कि सारे उतार-चढ़ावों के बावजूद देश की हस्ती मिटी नहीं है।

अपनी पहली यूरोप-यात्रा में जब मैं मास्को से चलकर चैकोस्लोवाकिया, स्विटजरलैण्ड, इटली, फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी, डेनमार्क और फिनलैण्ड होकर पुनः मास्को लौटा तो वहां भारतीयों ने एक सभा की। उन्होंने मुझे विभिन्न देशों के अनुभव सुनाने को कहा। मैंने उन्हें बतलाया कि प्राचीनता के कारण मैंने चैकोस्लोवाकिया की, प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए स्विटजरलैण्ड की, कला के लिए इटली की, संस्कृति के लिए फ्रांस की, लोकतंत्र के उद्यम के लिए इंगलैण्ड की, विनाश में से निर्माण के पुरुषार्थ को देखने के लिए जर्मनी की और छोटे होने पर भी

किस प्रकार स्वावलम्बी हो सकते हैं, इसके मूल्यांकन के लिए डेनमार्क और फिनलैण्ड की यात्रा मैंने की। सब देशों में एक-एक विशेषता है, लेकिन यदि इन सारी विशेषताओं का समन्वित रूप देखना हो तो वह भारत है। उसमें ये सारी बातें विद्यमान हैं, लेकिन दुर्भाग्य से हम अपने देश को जानते नहीं।

जिसने हिमालय नहीं देखा, वह भारत के प्राकृतिक सौंदर्य की कल्पना नहीं कर सकता। जिसने गंगा, यमुना आदि के किनारे-किनारे पैदल-यात्रा नहीं की, वह नदियों के महत्व को क्या जाने! जिसने सागर नहीं देखा, वह अनंत जल-राशि की महिमा को अनुभव नहीं कर सकता। जिसने अजंता-एलौरा की गुफाएं नहीं देखीं, वह अपनी महान कला का अनुमान नहीं लगा सकता। जिसने तीर्थों के दर्शन नहीं किए, वह भारतीय धर्म की महिमा को क्या समझे!

हमलोगों ने उत्तराखण्ड के समस्त धामों—बदरी, केदार, गंगोत्री, यमुनोत्री और गोमुख की यात्रा की, अमरनाथ गए और दक्षिण के छोर पर कन्याकुमारी और धनुषकोटि तक कोई भी तीर्थ ऐसा नहीं रहा, जिसके दर्शन हमलोगों ने न किए हों। इन सारी यात्राओं के संबंध में मैंने खूब लिखा। अधिकांश लेख-मालाएं 'नवभारत टाइम्स' में छपीं और लाखों पाठकों ने उन्हें बड़े चाव से पढ़ा। अमरनाथ की यात्रा पर 'जय अमरनाथ'! नामक पुस्तक निकली। एक बार जब शृंगेरी मठ के शंकराचार्य से मेरा परिचय कराया गया तो उन्होंने छूटते ही कहा, "हम इन्हें जानते हैं, पर यह हमें नहीं जानते।"

मैंने विस्मय से उनकी ओर देखा। वह मुस्कराते हुए आगे बोले, "हमने आपकी 'जय अमरनाथ' पुस्तक पढ़कर अमरनाथ की यात्रा की थी।" मैंने कृतज्ञभाव से कहा, "मेरा लिखना

सार्थक हो गया।"

'उत्तराखण्ड के पथ पर' में मैंने बदरी-केदार की यात्राओं का विशद् वर्णन किया था। वह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि उसका तत्काल नया संस्करण हो गया। जब वह पुस्तक लेख-माला के रूप में 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित हो रही थी, बम्बई जाने का अवसर हुआ। साथ में 'सस्ता साहित्य मण्डल' के तत्कालीन मंत्री श्री मार्तण्डजी उपाध्याय भी थे। हमलोग बाजार में स्टेनलैस स्टील के बर्तनों की दुकान पर गए। वहां 'नवभारत टाइम्स' रक्खा देखकर मार्तण्डजी ने दुकानदार से पूछा, "क्या तुम इस अखबार को नियमित रूप से पढ़ते हो?"

वह बोला, "नहीं, इसमें किन्हीं यशपाल जैन के बदरी-केदार की यात्रा पर लेख छप रहे हैं। उन्हीं को पढ़ने के लिए इसे खरीदता हूँ।"

मार्तण्डजी ने कहा, "यशपालजी से मिला दूं तो?"

"मुझे बड़ी खुशी होगी।" वह बोला।

मार्तण्डजी ने मेरा परिचय कराया तो वह इतना अभिभूत हुआ कि उसने चार थालों के सेट, जिसमें एक थाल, दो कटोरी और एक गिलास था, चौंसठ रुपये में दे दिए, साथ में दो दर्जन चम्मचें। उन सब पर उसने अपने हाथ से मेरा नाम भी लिख दिया। अगली बार जब मार्तण्डजी वहीं चार थालों का सेट लेने गए तो उसने एक सौ आठ रुपये मांगे। कुछ तो स्टील का भाव भी बढ़ गया था, लेकिन उससे भी बड़ी बात यह थी कि मेरी लेख-माला समाप्त हो गई थी।

एक प्रेस-पार्टी के साथ पं. जवाहरलाल नेहरू ने मुझे लद्दाख भेजा। यह चीन के आक्रमण के कुछ ही दिन की बात है। उस

यात्रा में हमारा अमरीकी जहाज गौरीशंकर (ऐवरेस्ट) की चोटी पर से गुजरा। मौसम साफ था। उसे देखकर रोमांच हो आया। संसार के सबसे ऊंचे पहाड़ी मार्ग से जब हमारी जीप चांगला (लगभग १६-२० हजार फुट) से गुजरी तो चारों ओर की हिम-मंडित दृश्यावली को देखकर न केवल हिमालय की विराटता का अनुभव हुआ, अपितु उसकी अलौकिकता का भी।

देश-भ्रमण की अनगिनत यात्राओं में मुझे जहां हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के, जिसकी स्थाई समिति का मैं बराबर सदस्य रहा, और सर्वोदय सम्मेलन के अधिवेशनों की याद आती है, वहां मैं पांडिचेरी और गणेशपुरी की यात्राओं को कभी नहीं भूल सकता। पांडिचेरी के श्रीअरविन्द आश्रम की माताजी की मेरे प्रति आत्मीयता थी। उनके दर्शन करने के लिए मैं कई बार पांडिचेरी गया और वह अत्यन्त उदारता-पूर्वक मुझे समय देती रहीं। उन्होंने सबसे पहले एक बड़े नाजुक काम में योग देने का मुझे अवसर दिया। वह फ्रांस में उत्पन्न हुई थीं, पर श्रीअरविन्द के पास आने के बाद उन्हें लगा कि उनका पुनर्जन्म भारत में हुआ, अतः वह अपनी फ्रेंच राष्ट्रीयता को बनाए रखकर भारत की राष्ट्रीयता चाहती थीं। उन्होंने एक पत्र देकर अपने अंतेवासी डा. इंद्रसेन और मुझे राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद से मिलने भेजा। राजेन्द्रबाबू उस समय मैसूर में ठहरे थे। हमलोग वहां गए, राजेन्द्रबाबू से मिले। माताजी का पत्र दिया, उन्होंने माताजी के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा कि दोहरी राष्ट्रीयता मिलना संभव नहीं है। उन्होंने बताया कि गांधीजी ने मीराबहन (मिस स्लेड) को दोहरी राष्ट्रीयता दिलवाने के लिए जवाहरलालजी से कहा था। उन्होंने इस विषय में कानून के विशेषज्ञों से राय ली, पर उनका कहना था कि एक व्यक्ति

को एक ही राष्ट्रीयता मिल सकती है।

एक दूसरा अवसर उस समय आया जब मैंने माताजी से निवेदन किया कि आपके पास एक-से-एक बढ़कर योग्य तथा निस्स्वार्थ विशेषज्ञ हैं। आप उनमें से कुछ व्यक्तियों को भारत की सहायता के लिए क्यों नहीं भेज देतीं ? माताजी ने कहा, "मैं इसके लिए तैयार हूं। मैं जिन व्यक्तियों को भारत सरकार को दूंगी, वे सरकार से एक पैसा नहीं लेंगे, अपनी सेवाएं मानद रूप में देंगे, पर वे काम मेरे निर्देशन में करेंगे।" उन्होंने राष्ट्रपति के नाम इस आशय का पत्र लिखा और उन व्यक्तियों की सूची संलग्न की, जिन्हें वह भारत सरकार की सहायतार्थ भेजने को उद्यत थीं। उनके पत्र को लेकर मैं राजेन्द्रबाबू से मिला। उनसे बात की तो उन्होंने स्पष्ट कहा, "यशपालजी, सरकार को यह कैसे स्वीकार होगा कि वे लोग काम यहां करें और मार्गदर्शन माताजी से प्राप्त करें ? दूसरे, ऐसे आदमियों को सरकारी अधिकारी टिकने कहां देंगे !"

मुझे बड़ा दुःख हुआ; क्योंकि मेरी हार्दिक आकांक्षा थी कि देश के प्रशासन में नीति का पूर्णतया समावेश हो और वह शुद्ध बने; लेकिन राजेन्द्रबाबू ने जो कठिनाई बताई, वह वास्तविक कठिनाई थी।

एक तीसरा अवसर और याद आता है। अपनी एक भेंट में मैंने माताजी से निवेदन किया कि यहां पांडिचेरी में आप उपस्थित हैं, और आश्रम बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है; लेकिन क्या आप सोचती हैं कि जहां प्रत्यक्षतः आप नहीं हैं, वहां श्रीअरविन्द का और आपका प्रयोग उसी कुशलता से चल सकता है ? माताजी ने उत्तर दिया, "अवश्य चल सकता है। श्रीअरविन्द अव्यक्त रूप में सब जगह मौजूद हैं।"

इसके कुछ समय बाद उन्होंने श्रीअरविन्द के कुछ अवशेष डा. इन्द्रसेन के द्वारा हवाई जहाज से दिल्ली भेजे, जिनका माताजी के आदेश पर हमलोगों ने सफदरजंग हवाई अड्डे पर स्वागत किया। वहां से एक जुलूस में उन्हें नई दिल्ली स्थित श्रीअरविन्द आश्रम ले जाया गया और बड़े आदर के साथ वहां प्रतिष्ठापित किया गया। यह मानना तो अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि यह महान् अनुष्ठान माताजी ने मेरे सुझाव पर सम्पन्न किया। सम्भवतः उनके मन में यह बात पहले से ही रही होगी, पर कहना न होगा कि उससे मुझे बड़ा संतोष हुआ।

मेरी दूसरी स्मरणीय यात्राएं गणेशपुरी की थीं, जहां गुरुदेव सिद्धपीठ के अधिष्ठाता बाबा मुक्तानन्द परमहंस रहते थे। संसार के, विशेषकर अपने देश के, आध्यात्मिक पुरुषों के प्रति मेरा मन बहुत ही आकर्षित रहा है। उसी आकर्षण से मैं अनेक संतों से मिला। श्रीअरविन्द आश्रम की माताजी के पास गया, माता आनंदमयी के आश्रम में गया, गंगोत्री के स्वामी कृष्णाश्रम से मिला। और भी बहुत-से संतों और धर्म-पुरुषों से मिला। जैनाचार्य शान्ति सागरजी के सान्निध्य में रहा, एलाचार्य मुनि विद्यानंदजी, आचार्य तुलसी, मुनि सुशील कुमार, उपाध्याय अमर मुनि, आचार्य रजनीश आदि-आदि न जाने कितने संत जनों के निकट सम्पर्क में आया। सबके लिए मेरे मन में आदर रहा, सबने मुझे स्नेह दिया और उनके प्रति मैंने कृतज्ञता अनुभव की, किन्तु मेरा मन तो मां की गोद चाहता था, जिसमें मैं सिर रखकर अपनी सारी बेचैनी, हैरानी और क्लेश भूल सकूं। वह गोद मुझे बाबा मुक्तानंद की मिली। ऐसी ही गोद क्षुल्लक (अंत काल में मुनि) बाबा गणेश प्रसाद वर्णी की दिखाई दी थी, पर वह तो निर्वाण को प्राप्त हो गए। बारह-तेरह वर्ष तक

बाबा मुक्तानंद मुझ पर और मेरे सारे परिवार पर अपने प्रेम की वर्षा करते रहे, हम सबको उन्होंने निहाल कर दिया। अंत में वह भी ब्रह्मलीन हो गए।

उनके जाने के बाद कुछ समय तक बड़ी रिक्तता अनुभव हुई; किन्तु धीरे-धीरे लगा कि बाबा बहुत कुछ दे गए हैं। उसे ध्यान में रखना और तदनुकूल जीते रहना है।

अध्यात्म की मेरी भूख का अंत नहीं था। वही भूख मुझे एक अन्य व्यक्ति के पास ले गई। वह हैं श्री सत्यनारायण गोयन्का। उनके पूर्वज बर्मा गए थे और सत्यनारायणजी का जन्म वहीं हुआ था। जब मेरे अनन्य मित्र और बंधु विष्णु प्रभाकर और मैं सन् १९६० में अखिल बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के उद्घाटन के सिलसिले में रंगून गए थे तो उन्हीं के साथ ठहरे थे। उस समय वह बहुत बड़े उद्योग-पति थे। उनकी कुछ मिलें चलती थीं। पर अपने माइग्रेन के रोग के कारण 'विपश्यना' (ध्यान-योग) की ओर वह आकृष्ट हुए। उन्हें लाभ हुआ। उसके बाद उधर रुचि बढ़ती गई। वर्त-मान में, जिन्होंने भगवान बुद्ध प्रणीत विपश्यना को नया जीवन प्रदान किया था, उन ऊ बा खिन ने अपने निधन की पूर्व संध्या में सत्यनारायणजी को विपश्यना सिखाने का दायित्व सौंपा। सत्यनारायणजी उस समय भारत में थे। ऊ बा खिन की इच्छा-पूर्ति के लिए उन्होंने इस सत्कार्य के लिए अपने जीवन को अर्पित कर दिया। वह स्वयं शिविर लगाने लगे और अब तो देश-विदेश में विपश्यना इतनी लोक-प्रिय हो गई है कि चारों ओर से सत्यनारायणजी की मांग रहती है।

विपश्यना के कई शिविरों में भाग लेने के उपरान्त मैं कह सकता हूं कि अध्ययन की पद्धतियों में यह सबसे अधिक वैज्ञानिक

है। श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से आरम्भ करके साधक जीवन की गहराइयों में जाता है और अन्ततोगत्वा उसे अनुभूति होती है कि जिन चीजों पर हमारा जीवन आधारित रहता है, वे प्रायः अनित्य होती हैं और इस प्रकार वह जीवन का मर्म समझ लेता है। मेरा मन आज भी इस ध्यान-पद्धति की ओर आकृष्ट होता है, पर मैं उसके लिए नियमित रूप से समय नहीं निकाल पाता।

मेरी मान्यता है कि सच्चा धर्म-पुरुष वही है, जिसके सामने पहुंचते ही व्यक्ति का अहंकार गल जाय। आदमी की सबसे बड़ी व्याधि अहंकार ही है और उसी से मुक्त होने पर जीवन में निखार आता है। पर अहंकार पूरी तरह गलता कहां है! राजनेता, विद्वान, लेखक, समाज-सेवी, उद्योगपति, यहां तक कि अधिकांश साधु-संत तक अहंकार का बोझ ढोते हैं।

सारे भारत में कई बार घूमने पर मुझे जहां प्रकृति-प्रदत्त महान सम्पदा को देखने का सौभाग्य मिला, वहां देश की अमूर्त्त सांस्कृतिक परम्पराओं को भी प्रत्यक्ष रूप से देखने और जानने का अवसर मिला। मैंने कई बार कहा और लिखा है कि हमें अपने बच्चों को हिमालय-यात्रा करानी चाहिए, देश में घुमाना चाहिए, जिससे बचपन से ही उन्हें उच्चकोटि के संस्कार प्राप्त हों और देश की धरती के साथ उनका घनिष्ठ नाता जुड़े।

विदेशों में

मेरे पैर में चक्र है, वह मुझे चैन नहीं लेने देता। उस चक्र ने मुझे अपने देश में घुमाया है तो देश के बाहर भी ले गया है। दादाजी (श्री बनारसी दास चतुर्वेदी) ने मेरे बारे में लिखा

है कि राहुल सांस्कृत्यायन और डा. रघुवीर के बाद मैं तीसरा हिन्दी लेखक हूं, जिसने देश-विदेश की इतनी यात्राएं की हैं। राहुलजी और डा. रघुवीर ने जो कार्य किया है, उसका तो मैं शतांश भी नहीं कर पाया, लेकिन यह सच है कि मैंने दुनिया छान डाली है।

मेरी सबसे पहली विदेश-यात्रा सन् १९५७ में रूस की हुई थी, जहां मैं युवक समारोह में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का सदस्य होकर गया था। एक सप्ताह में लौट आने की बात थी, लेकिन लौटा चार महीने में। रूस-प्रवास पर बाद में मेरी एक लेख-माला निकली, जो 'रूस में छियालीस दिन' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। उस पर मुझे 'सोवियत लैण्ड नेहरू' पुरस्कार मिला।

उन दिनों सीधा मास्को जाने के लिए जहाज नहीं था। काबूल होकर ताशकंद और फिर मास्को जाना होता था। मैं भी इसी मार्ग से गया। काबुल दो दिन ठहरा। वहां से एरोफ्लोट द्वारा तरमेज पहुंचा। तरमेज अफगानिस्तान और रूस की सीमा पर है। बीच में आमूदरिया बहती है।

मेरे मन में रूस को लेकर बड़ी विचित्र भावना थी। उसे 'लाल देश' कहा जाता था। जब हम आमूदरिया के ऊपर पहुंचे तो हमें बताया गया कि उसकी आधी धारा अफगानिस्तान में है, आधी रूस में। मैंने आंख गड़ाकर देखा कि रूस की धारा का जल लाल तो नहीं है। वह ठीक वैसा ही था जैसा कि शेष आधा था।

रूस किसी जमाने में गांधीजी का बड़ा आलोचक रहा था। उसने उनके विषय में बहुत कुछ उल्टा-सीधा लिखा था। मेरी गांधीजी के प्रति गहरी श्रद्धा थी। मुझे डर था कि कहीं कोई

अप्रिय घटना न हो जाय। किन्तु जब हमारा जहाज तरमेज पर उतरा तो जिन रूसी महानुभावों ने जहाज पर आकर हमारा स्वागत किया, उन्होंने गांधीजी की चर्चा छिड़ते ही उनकी जो प्रशंसा की, उसने मुझे चकित कर दिया। उन्होंने कहा, "गांधी-जी महापुरुष थे। उन्होंने मैत्री और शान्ति के लिए जो कुछ दिया, वह अपूर्व है। हमारे देश में उनकी आत्म-कथा (सत्य के प्रयोग) का अनुवाद हुआ है। गजब की चीज है। जितनी प्रतियां छपीं, हाथोंहाथ खप गईं।"

और न जाने क्या-क्या उन्होंने कहा। मुझे अच्छा लगा। मेरे भीतर का छिपा डर दूर हो गया। मैंने अपने उस प्रवास का बड़ा विस्तृत वर्णन 'रूस में छियालीस दिन' पुस्तक में किया है। दो-तीन बातों का उल्लेख करने का लोभ संवारण नहीं कर पा रहा हूं। रूस में हिन्दी का चलन अच्छा है। मास्को और लेनिनग्राड में भारत की भाषाओं का अध्ययन और साहित्य प्रकाशन के लिए संस्थान हैं। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं के अनेक ग्रंथों का अनुवाद रूसी भाषा में प्रकाशित किया है। प्रो· बारान्निकोव द्वारा किया गया 'रामचरित मानस' का रूसी अनुवाद खूब लोकप्रिय हुआ है। महाभारत के प्रथम भाग का अनुवाद प्रो. कल्यानोव ने किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द आदि-आदि के साथ अनेक आधुनिक हिन्दी लेखकों की चुनी हुई कृतियां भी रूसी में अनूदित हुई हैं।

मुझे मास्को और लेनिनग्राड के प्राच्य संस्थानों में आमं-त्रित किया गया। मास्को में हिन्दी के अनन्य प्रेमी और योग्य लेखक तथा शोधकर्ता प्रो. चेलिशेव ने मेरा स्वागत किया। उसी दिन हिन्दी के चुने हुए कवियों की कविताओं का रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। उन्होंने पहली प्रति पर 'प्रिय मित्र

यशपाल जैन को सप्रेम भेंट' लिखकर मुझे दी। मेरे साथ एक भारतीय मित्र थे। चेलिशेव ने उनसे कहा कि मैं आपका नाम जानता नहीं। इसलिए आप एक कागज पर अपना नाम लिखकर दे दीजिये। उन मित्र ने अपना नाम लिखकर दे दिया। चेलिशेव ने उसे देखा तो उनकी त्यौरी चढ़ गई। बोले, "मैंने आपसे हिन्दी में लिखने को कहा था। आपने अंग्रेजी में लिख दिया।" मित्र ने कहा, "मैं हिन्दी समझ लेता हूं, लिख नहीं पाता।" यह सुनकर चेलिशेव का चेहरा तमतमा आया। उन्होंने कहा, "ठीक है। आप भारतीय हैं और हिन्दी लिख नहीं पाते। मैं हिन्दी में आपका नाम लिखूंगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने दूसरी प्रति पर उनका नाम शुद्ध हिन्दी में लिखकर दिया।

यह घटना मुझे कभी भूलती नहीं। याद दिलाती है कि प्रत्येक देश को अपनी राष्ट्रीय भाषा का स्वाभिमान होना चाहिए।

दूसरी स्मरणीय घटना रूस के महान लेखक लियो टाल्स्टाय की जन्म-भूमि यास्नाया पोलियाना की यात्रा है। वहां टाल्स्टाय की सभी चीजें यथावत सुरक्षित रक्खी गई हैं। सबसे हृदय-स्पर्शी स्थल उनकी समाधि है, जो उनकी विख्यात कहानी 'आदमी को कितनी जमीन चाहिए?' की याद दिलाती है। टाल्स्टाय ने अपने जीवन काल में लिखकर दे दिया था कि उनकी समाधि पर कोई पक्का स्मारक न बनाया जाय। उन्होंने स्वयं कुछ पेड़ लगाये थे। उन्हीं के बीच छः फुट लम्बा एक कच्चा चबूतरा बना दिया जाता है। ऊंचे-ऊंचे वृक्ष उस पर पुष्प वर्षा करते हैं। वह पवित्र स्थान और उस महान लेखक का जीवन-दर्शन आज भी मेरे मन में बसा है।*

*विस्तृत विवरण के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'रूस में छियालीस दिन'।

गोर्की, चेखव, पुश्किन आदि के संग्रहालय इस बात के द्योतक हैं कि वहां लेखकों का कितना सम्मान किया जाता है। गोर्की की वह मेज तक सुरक्षित रक्खी गई है, जिस पर उन्होंने पहली कहानी लिखी थी।*

मैं तरह-तरह की शंकाएं मन में लेकर रूस गया था, पर जब लौटा तो मेरा मन वहां की अनेक बातों से अभिभूत था। जो बातें मुझे अच्छी नहीं लगीं, उनका उल्लेख भी मैंने अपनी पुस्तक** में दिया है।

मास्को में रेडियो, भाषण तथा लेखों से जो पैसा मिला, वह भारत आ नहीं सकता था। मित्रों ने सलाह दी कि यूरोप के देशों में घूम जाओ। अतः मैंने चेकोस्लोवाकिया, स्विट्जरलैण्ड, इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, फिनलैण्ड, लेनिनग्राद और मास्को का हवाई जहाज का टिकट लिया। मास्को मैं काफी दिन रह चुका था, इसलिए चाहता था कि लंदन होकर भारत लौट जाऊं, लेकिन मेरे पास दिल्ली से मास्को का वापसी टिकट था। जब मैंने इन्टूरिस्ट से इस बारे में बात की तो वहां बैठी किशोरी ने कहा, "क्यों, क्या मास्को आपको पसन्द नहीं है, जो लंदन से भारत चले जाना चाहते हैं? यहां वापस आइए और कुछ दिन रहिये।"

उसने यह कहा तो, पर सच यह था कि वह टिकट में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। जो हो, टिकट बनवाकर मैंने यात्रा आरम्भ की। जहां भी गया, वहीं सुविधाएं मिलती गईं। विदेशी मुद्रा की कमी इसी से नहीं हुई। लंदन के हीथ्रो हवाई अड्डे पर उतरा उस समय मेरे पास कुल जमा एक पौण्ड और

*वही
**वही

कुछ शिलिंग थे। मैं एक मित्र के साथ ठहरा। बी. बी. सी. वालों को मालूम हुआ तो उन्होंने मुझे बुलाया और १२॥ मिनट की इंटरव्यू ली। उससे फिर पैसा हाथों में आ गया। यात्रा बड़े आनन्द से हुई। लौटकर मैंने 'यूरोप की परिक्रमा' लेख-माला 'नवभारत टाइम्स' में लिखी।

यूरोप के इस प्रवास में चमक-दमक बहुत देखी, पर मेरा मन भूखा ही रहा। मैं भारतीय संस्कृति का दर्शन करना चाहता था, पर वैसा नहीं हुआ। मेरी यह इच्छा दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की यात्रा करने पर पूर्ण हुई। मैं पहले ही बता चुका हूं कि बर्मा के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक महोत्सव के लिए मुझे और विष्णु प्रभाकर को बुलाया था। हमलोग डेढ़ महीने ब्रह्मदेश में रहे, अनंतर थाईलैण्ड, कम्पूचिया, दक्षिण वियतनाम, सिंगापुर और मलाया में घूमे, फिर बैंकोक होकर रंगून पहुंचे। इस यात्रा को मैं अपने जीवन की अत्यन्त महत्व-पूर्ण यात्रा मानता हूं। भारतीय संस्कृति बड़े उत्कृष्ट रूप में मुझे बर्मा, थाईलैण्ड और कम्पूचिया में दिखाई दी। अंकोरवाट, अंकोर थाम, बेंतई सिमरे आदि में भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म की अमूल्य निधियां बिखरी पड़ी हैं। उन्हें देखकर मन अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करता है। थाईलैण्ड में राम-भक्ति की पावन धारा इतनी शीतल और इतनी वेगवती है कि दर्शक देखकर चकित रह जाता है।

इस प्रवास की लेख-माला भी 'नवभारत टाइम्स' में छपी और बाद में उसके साथ अफगानिस्तान और नेपाल को जोड़-कर मेरी 'पड़ोसी देशों में' पुस्तक का प्रकाशन हुआ, जिसे उत्तर प्रदेश की सरकार ने पुरस्कृत किया।

गांधी मार्ग के निष्ठावान पथिक, अपनी धुन के धनी और

स्वतंत्रता सेनानी श्री महाबीर प्रसाद पोद्दार ने एक बार श्री घनश्यामदास बिरला से योंही कह दिया था कि वह विदेशों में जाकर वहां से प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य खरीदना चाहते हैं। मैं उस समय वहां मौजूद था। पोद्दारजी तो जा नहीं सके, लेकिन बिरलाजी ने मुझसे जाने और प्रवासी भारतीयों तथा भारतीय संस्कृति का निरीक्षण कर आने को कहा। उन्होंने विशेष रूप से मारीशस और फीजी जाने की इच्छा प्रकट की, जहां भारतीय बड़ी संख्या में बसते हैं। मेरा मन अफ्रीका में घूमने का था। मैंने अदन, सूडान, इथियोपिया, कैनिया, युगाण्डा, तंजानिया, जंजीबार, मलावी, दणिक्षी रोडेशिया, जांबिया, मैडेगास्कर, मारीशस, कोकोजद्वीप, न्यूजीलैण्ड, फीजी, सिंगापुर और थाईलैण्ड का कार्यक्रम बनाया। प्राकृतिक दृष्टि से मुझे अफ्रीका बड़ा सुन्दर लगा। इतने घने बन मीलों तक फैले मैंने अन्यत्र नहीं देखे थे। युगाण्डा का विशेष आकर्षण मेरे लिए नील नदी का उद्गम देखना था, जो युगाण्डा की राजधानी कम्पाला से लगभग २५० मील की दूरी पर था। रिपन प्रपात अब विक्टोरिया झील में मिल गया है। उस झील का आकार सागर जैसा है।

सारे देशों में मेरा शानदार स्वागत हुआ। सभी जगह रेडियो और टी. वी. पर मेरे एकाधिक कार्यक्रम हुए। बात यह हुई कि उस प्रवास पर जाने से पहले मैं तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री से मिला। उन्होंने जहां-जहां मुझे जाना था, वहां के राजदूतावासों को पत्र लिख दिए कि मुझे सब प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जायं। इससे मुझे बड़ी सुविधा हो गई और प्रत्येक देश में मुझे विशिष्ट अभ्यागत का स्वागत दिया गया।

रेडियो और टी. वी. पर तथा सार्वजनिक सभाओं और गोष्ठियों में बोलने के मेरे चार मुख्य विषय थे। साहित्य, भारतीय संस्कृति, गांधी विचार-धारा और प्रवासी भारतीय। भारतीय समुदाय के सामने मैं राष्ट्र भाषा हिन्दी की बात भी करता था। मोम्बासा (कैनिया) में एक सभा जैन-धर्मावलम्बियों की हुई तो मैं वहां जैन-धर्म, विशेषकर भगवान महावीर के सिद्धान्तों पर बोला।

एक घटना मुझे याद आती है। सम्भवत: सूडान में एक दिन वहां के सबसे प्रमुख पत्र में पहले पृष्ठ पर मोटी सुर्खियों में अंग्रेजी मे छपा, जिसका भाव था—"भारत अब भी अंग्रेजी को बनाये रखने के लिए उत्सुक, मद्रास में भयंकर प्रदर्शन, लोग जलकर मृत्यु का वरण कर रहे हैं।"

इस समाचार को पढ़कर मुझे बड़ी चोट लगी। मैंने तत्काल भारतीय दूतावास को फोन किया। प्रथम सचिव मिले। मैंने कहा, "आपने आज का अखबार देखा।"

"जी हां," उन्होंने बड़े साहिबी लहजे में कहा, "कहिये।"

मैंने कहा, "आपको उसमें कुछ अन्यथा दिखाई नहीं दिया?"

"अन्यथा ?" उन्होंने लापरवाही से कहा, "जो छपा है, वह ठीक है।"

मुझे ताव आ गया। मैंने कहा, "जनाब, आपको कुछ और भी जानकारी है ? तमिलनाडु वह प्रदेश है, जहां गांधीजीने १९१८ में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना की थी और अपने लड़के देवदास गांधी तथा अन्य व्यक्तियों को हिन्दी के प्रचार के लिए भेजा था। आपको पता है कि तमिलनाडु वह प्रदेश है, जहां चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने अपने मुख्यमंत्रित्व के दिनों में हिन्दी को अनिवार्य बनाया था और

जिन्होंने उसका विरोध किया था, उन्हें जेल भेजा था ? क्या आपको जानकारी है कि आज भी वहां हिन्दी की परीक्षाओं के आठ सौ केन्द्र हैं ?'

इन बातों को सुनकर वह महोदय दबी जबान में बोले, "मुझे दुःख है कि ये तथ्य हमें विदेश-मंत्रालय ने नहीं दिये। क्या आप एक कृपा करेंगे ?"

मैंने पूछा, "क्या ?"

बोले, "मैं अभी आता हूं। आप मेरे साथ रेडियो स्टेशन चलिए और इन्हीं तथ्यों के आधार पर एक वार्ता प्रसारित कर दीजिए।"

मैंने स्वीकृति दे दी। वह महानुभाव आए। मुझे साथ लेकर रेडियो स्टेशन गये और मैंने तेरह मिनट की वार्त्ता प्रसारित की। फिर उस वार्त्ता के आधार पर उन्होंने एक गश्ती चिट्ठी तैयार करके विभिन्न पत्रों आदि को भेजी।

इस यात्रा में मारीशस और फीजी के आतिथ्य ने तो मुझे विभोर कर दिया। वहां मैं लगभग २०-२० दिन रहा। वहां के भारतीयों में भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग देखकर मेरा मन रोमांचित हो उठा। पर हिन्दी के लिए जो प्रेम मुझे मारीशस में देखने को मिला, वह अन्यत्र नहीं मिला। मारीशस में, यद्यपि वहां की भाषा क्रयोल है, तथापि हिन्दी का खूब चलन है। फीजी में हिन्दी का उतना प्रचार नहीं है। मारीशस में मेरे सारे कार्यक्रमों की व्यवस्था वहां की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ने की थी, पर फीजी में मेरा सारा प्रबन्ध भारत प्रेमी श्री शंकर प्रताप ने किया था। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में आकर्षण था, पर वह हिन्दी के उतने आग्रही नहीं थे। प्रवासी भारतीयों के लिए कुछ करने की उनके दिल में बड़ी तड़प थी।

फीजी में एक मजेदार बात हुई। वहां के कुछ बन्धुओं ने मुझे सलाह दी कि यहां धोती-कुरता मत पहनिये, क्योंकि जो धोती-कुरता पहनता है, उसके सम्बन्ध में माना जाता है कि वह गरीब है। यहां हिन्दी भी मत बोलिए; क्योंकि लोग समझते हैं कि हिन्दी बोलने वाला अशिक्षित है, अंग्रेजी नहीं जानता।

मैंने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया कि कुरता-धोती के अलावा और कुछ पहनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहां तक हिन्दी न बोलने का सवाल है, आप मुझे क्षमा करेंगे, मैं बस भर हिन्दी में ही बोलूंगा।

फीजी की राजधानी सूवा में मेरा सार्वजनिक अभिनन्दन हुआ। लगभग सभी प्रमुख शिक्षण-संस्थाओं में मुझे आमंत्रित किया गया। मैं पहले जमकर हिन्दी में बोलता और फिर दस-पंद्रह मिनट में हिन्दी के भाषण का सार अंग्रेजी में दे देता।

फीजी छोटा-सा देश है। ६-७ लाख की आबादी है। चारों ओर शोर मच गया। उसके साथ ही मुझ पर निमंत्रणों की वर्षा होने लगी। जहां मैं जा सकता था, गया।

प्रवास के अन्त में मुझे विदाई देने के लिए सूवा में एक समारोह हुआ। उसमें उन लोगों ने जो भावनाएं व्यक्त कीं, उनसे मेरी यात्रा सार्थक बन गई। उन्होंने कहा, "आपके आने से सबसे बड़ा लाभ हमें हुआ। यहां के लोगों की निगाह में कुरता-धोती और हिन्दी का मान बढ़ा है।"

इससे बढ़कर सम्मान की बात मेरे लिए भला और क्या हो सकती थी!

यात्रा लम्बी थी, बहुत लम्बी थी, पर मुझे थकान अनुभव नहीं हुई, बल्कि मेरा उत्साह दिनों-दिन बढ़ता ही गया। नये-

नये देश देखे, नये-नये लोग मिले लेकिन उससे भी बड़ी बात यह हुई कि मुझे प्रवासी भारतीयों की स्थिति को प्रत्यक्ष रूप में देखने का मौका मिला।

भारत लौटकर मैंने अपनी रिपोर्ट तैयार की 'प्रवासी भारतीयों की स्थिति'। श्री घनश्यामदासजी को वह रिपोर्ट पसंद आई और उन्होंने उसका अंग्रेजी अनुवाद करके छपवाने और सारे संसद सदस्यों को तथा केन्द्रीय सरकार के सब मंत्रालयों को भेजने की सलाह दी। मैंने ऐसा ही किया। उस रिपोर्ट की गृह तथा विदेश मंत्रालयों में बड़ी चर्चा रही। उन्होंने इसकी बड़ी संख्या में प्रतियां मंगवाकर इधर-उधर भेजीं।

इस प्रवास की लेख-माला 'सागर के आर-पार' के सम्बन्ध में मुझे बीसियों क्या, पचासों पत्र मिले, जिनमें पाठकों ने इतनी उपयोगी सामग्री देने के लिए बधाई दी।

१९६८ में 'चित्रकला संगम' का एक प्रतिनिधि मंडल उजबेकिस्तान की सरकार के निमंत्रण पर मास्को, ताशकंद और समरकंद गया। इस प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व मुझे सौंपा गया। उसमें सर्वश्री हंसराज गुप्त (दिल्ली के तत्कालीन महापौर), अक्षयकुमार जैन, हरिकृष्ण शास्त्री (स्व. लालबहादुर शास्त्री के सुपुत्र), ताराचंद खण्डेलवाल और वीरेन्द्र प्रभाकर थे। हमलोग शास्त्रीजी की एक विशाल आवक्ष प्रतिमा ले गये थे, जिसे उस स्थान पर स्थापित किया गया, जहां उनका देहान्त हुआ था।

इस प्रवास के प्रारम्भ में ही मैंने अपने प्रतिनिधि मंडल के सब सदस्यों को सूचित कर दिया था कि हमारी सारी कार्यवाही हिन्दी में होगी। इसे सबने स्वीकार कर लिया। मास्को सरकार हमारे इस निश्चय से बहुत प्रभावित हुई और उसने तत्काल

एक हिन्दी-रूसी के परिवाचक (दुभाषिये) की व्यवस्था कर दी।

सन् १९७२ में मैं सपत्नीक कैनेडा गया, जहां मेरा लड़का सुधीर रहता है। वहां से हमलोग अमरीका चले गये। लौट-फिर कैनेडा गए। वहां से मुझे सूरीनाम, गयाना और ट्रिनीडाड और टोबेगो (कैरेबियाई देशों) की यात्रा का निमंत्रण मिला। मैं वहां गया और तीनों देशों में खूब घूमकर कैनेडा वापस पहुंचा, फिर स्वदेश आया। प्रवासी भारतीयों की दृष्टि से यह प्रवास अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

दूसरी बार हमलोग सन् १९८० में पुनः कैनेडा गए। टोरेंटों (कैनेडा) की बहुत-सी स्मृतियों में एक स्मृति अविस्मरणीय है। पिछली बार जब हमलोग टोरेंटो गए थे, मुझे 'हिन्दू प्रार्थना समाज' नामक संस्था में आमंत्रित किया गया था। शहर के एक गिरजाघर में ईसा के सलीब पर पर्दा डालकर वहां राम, कृष्ण आदि के चित्र रख लिये गए और रामायण आदि का पाठ किया गया, कीर्तन हुआ।

वह सब मुझे देखकर जहां प्रसन्नता हुई, वहां थोड़ा दुःख भी हुआ कि संस्था के अधिकारियों ने अपना स्थान नहीं बनाया। मैंने यह दुःख उनके सम्मुख व्यक्त किया तो उन्होंने आश्वासन दिया कि अगली बार जब मैं आऊंगा तो देखूंगा कि संस्थान का अपना स्थान हो गया है।

इस बार मैं पहुंचा तो उन्होंने मुझे बुलाया और मुझे यह देखकर अपार हर्ष हुआ कि उन लोगों ने न केवल मंदिर बनाया था, अपितु बाहर से आने वाले धर्म-प्रेमी तथा अन्य व्यक्तियों के ठहरने के लिए मंदिर के साथ ही आवास का भी प्रबन्ध कर दिया था। अपने भाषण में मैंने उन्हें बधाई दी और आशा व्यक्त की कि भावना की दृष्टि से उस धर्म-स्थान की भविष्य में महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

कैनेडा पहुंचने से पहले हम न्यूयार्क में रहे और बाबा मुक्तानन्द के आश्रम साउथ फॉलसबर्ग में कैनेडा जाने से पूर्व और लौटकर अठारह दिन बिताये। इस प्रवास के साथ विमला लूनावत और मुनि सुशील कुमार का हमारे प्रति प्रेम और सौजन्य विशेष रूप से जुड़ा है। विमला हनुमान की परम भक्त हैं। न्यूयार्क में रहकर अपनी साधना करती हैं और ज्योतिष (कुण्डली बनाना और उसका फल बताना) में निष्णात हैं। उनके दो बड़े ही सुसंस्कृत पुत्र हैं। हमारे अभिनन्दन के लिए विमला ने एक गोष्ठी की, जिसमें ४०-४५ व्यक्तियों ने भाग लिया।

इस बार न्यूयार्क में हिन्दी की सुलेखिका सोमा वीरा से भी मिलना हुआ। उन्होंने रेडियो के लिए मुझसे इन्टरव्यू ली।

मुनि सुशील कुमार भगवान महावीर के पच्चीसौवें निर्वाण-महोत्सव वर्ष के अवसर पर जैन समाज के घोर विरोध के बावजूद, कतिपय पुरातन परम्पराओं को तोड़कर, विदेश गए थे और अनेक देशों में उन्होंने भगवान महावीर का संदेश दिया। बाद में वह न्यूयार्क से ५०-६० मील पर स्टेटन द्वीप में अपना आश्रम बनाकर रहने लगे। अब तो उन्होंने न्यूजर्सी में बहुत-सी जमीन लेकर बड़ा आश्रम बनाया है। उन्होंने मुझे और मेरी पत्नी को अपने आश्रम में बुलाया, कुछ अन्य व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया और एक छोटी-मोटी सभा की। मुनि महाराज बड़े ओजस्वी वक्ता हैं और जैन धर्म के जाने-माने विद्वान हैं। विभिन्न देशों में उनकी ख्याति है। न्यूयार्क में और लंदन में दो अन्तर्राष्ट्रीय जैन सम्मेलन करा चुके हैं। तीसरा सम्मेलन दिल्ली में कराया। अत्यन्त कर्मठ और गतिशील व्यक्ति हैं।

मेरी पत्नी मास्को नहीं गई थीं। जब वह डेनिश सरकार की फैलोशिप के दिनों में डेनमार्क में थीं, लौटते में उन्होंने मास्को में रुककर दिल्ली आने का कार्यक्रम बनाया था। सारी व्यवस्था हो गई, किन्तु ऐन मौके पर कुछ बाधा उपस्थित हो गई। जाना रुक गया। अब उन्होंने वहां जाने की इच्छा जतलाई तो लिखा-पढ़ी की गई और बारह दिन मास्को में ठहरने की सुविधा हो गई, किन्तु ओलम्पिक खेलों की भीड़ के कारण वहां की सरकार ने हमें आने की अनुमति नहीं दी। तब मैंने कहा, "चलो, अब यह समय लंदन में बितावेंगे।" वहां गए और बारह-पन्द्रह दिन मारीशस के अवकाश-प्राप्त शिक्षा-परामर्शदाता और हिन्दी-सेवी श्री लक्ष्मी प्रसाद रामयाद के साथ ठहरे। उनके और उनकी पत्नी बहन सरस्वती के प्रेमल व्यवहार और मधुर आतिथ्य की स्मृति आजतक मन पर बनी है।

लंदन मैं दो-तीन बार पहले हो आया था। प्रथम प्रवास में तो एक पखवाड़े से अधिक ठहरा था, किन्तु ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय नहीं देख पाया था, जिसकी प्रसिद्धि थी। वह विश्वविद्यालय हमलोगों ने इस बार देखा। अच्छा लगा। पुराना ऐतिहासिक शिक्षा-केन्द्र है और बड़ी-बड़ी विभूतियां उसने पैदा की हैं। वहां प्रायः प्रत्येक संकाय के साथ गिरजाघर देखकर लगा कि उसके निर्मात।ओं ने शिक्षा के साथ धर्म को जोड़कर बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया है। हमारे देश में शिक्षा की दुर्गति इसीलिए हुई है कि उसके साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं रहा।

इस यात्रा से पहले सन् १९७६ में द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन मारीशस में हुआ। उसमें मारीशस की सरकार के निमंत्रण पर मैं और मेरी पत्नी प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित

हुए। उससे एक वर्ष पहले नागपुर के प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में हम देख चुके थे कि हिन्दी को लेकर जितना उत्साह विदेश के हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-सेवियों में है, उतना भारत में और भारत-वासियों में नहीं है। इस बात पर अनेक विदेशी प्रतिनिधियों ने सार्वजनिक मंच से अपना क्षोभ प्रकट किया था। वही क्षोभ मारीशस में देखने में आया और उसी क्षोभ की नई दिल्ली के तृतीय सम्मेलन में पुनरावृत्ति हुई। जो प्रस्ताव पहले सम्मेलन में पारित हुए थे, उनमें से अधिकांश फाइलों की धूल चाटते रहे, आज भी चाट रहे हैं। फिर भी मानना होगा कि विदेशों में हिन्दी की जड़ें मजबूत हुई हैं और कोई आश्चर्य नहीं, यदि हिन्दी का विदेशों में जय-जयकार होने पर, हमारा देश हिन्दी के महत्व को समझे।

मारीशस की तीसरी यात्रा मैंने सपत्नीक सन् १९८५ में की। अवसर था वहां की हिन्दी प्रचारिणी सभा का रजत-जयंती महोत्सव। उसमें सम्मिलित होने के लिए सभा ने मुझे और मेरी पत्नी को आमंत्रित किया था। उस छोटे-से द्वीप के साथ विगत २७ वर्षों में मेरा गहरी आत्मीयता का नाता जुड़ गया था। मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरे जीवन में सागर और पर्वत का विशेष महत्व रहा है। वहां मुझे दोनों ही मिले। प्रकृति के इस महान् वरदान के साथ-साथ यहां के कतिपय सहृदय तथा प्रेमी बन्धुओं ने भी मुझे उस भूमि के साथ जोड़ दिया। पं. विष्णुदयाल, जयनारायण राय, सूर्यमंगर भगत, सोमदत्त बखोरी-दम्पती, राजमन राधाकृष्ण, लक्ष्मी प्रसाद रामयाद आदि-आदि ने मुझे सदा के लिए जकड़ लिया। ये सब उन हिन्दी-प्रेमियों और सेवियों में गिने जाते रहे हैं, जिन्होंने हिन्दी के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, अनन्तर साहित्य-

निर्माण में भी। दुर्भाग्य से जयनारायण राय और सूर्यमंगर भगत का देहान्त हो गया। मेरे प्रवासों को उन्होंने इतना सुखद बनाया कि उनकी याद मेरे मन से कभी उतर नहीं सकेगी। जिन्होंने दूरदर्शन पर मेरे कई कार्यक्रम किये, वह भाई गिरजानन भी अब नहीं रहे। सौभाग्य से हिन्दी प्रचारिणी सभा के रजत-जयन्ती महोत्सव के अवसर पर जयनारायण राय और गिरजानन दोनों को ही सभा ने मेरे द्वारा सम्मानित कराया था। रवीन्द्र घरभरण मारीशस के उच्चायुक्त होकर कई वर्ष तक दिल्ली में रहे थे। बाद में मारीशस में मन्त्री हुए। उन्होंने भी मुझे बड़ा स्नेह दिया। विश्व हिन्दी सम्मेलन को मारीशस में सफल बनाने में जिन्होंने जी-जान से प्रयत्न किया, उन बलवन्त राय को भुलाना सम्भव नहीं है। सम्मेलन के अवसर पर वह वहां मन्त्री थे। अब मन्त्रि-परिषद से बाहर हैं। सम्मेलन के अवसर पर तो उन्होंने पूरी सुविधाएं जुटाई ही, तीसरी यात्रा में भी वह हमें गंगा तालाब ले गये और अपनी संस्था हिन्दू महासभा में भी उन्होंने हमारा अभिनन्दन किया।

सन् १९६५ में वहां से लौटने के बाद मैंने 'सस्ता साहित्य मण्डल' की पुस्तकों के लगभग १२५ सेट भेंट स्वरूप भिजवाये थे, जिनसे वहां पुस्तकालयों की नींव पड़ी। इतना ही नहीं, उन सेटों की पुस्तकें पढ़कर उन लोगों ने विनोवा जैसे मनीषी को जाना और उनकी जयन्ती मनाना आरम्भ किया।

इन सब कारणों से मुझे मारीशस अपने घर जैसा लगता है। मैंने लिखा है कि मारीशस मुझे बार-बार पुकारता है।

१९७८ में रंगून में अखिल वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ तो उसकी अध्यक्षता करने के लिए मुझे फिर बुलावा आया। होली का विशेष अवसर था। मैं वहां

गया। वहां का राजनैतिक वातावरण मुक्त नहीं था, फिर भी आठ दिन में एक दर्जन से अधिक सभाएं हुईं, जिनमें मैंने अपने विचार व्यक्त किये। सन् १९६० में हिन्दी का जो विस्तार था, वह बहुत कुछ सिमट गया था। बंदिशों के कारण वे लोग पैसा बाहर भेज नहीं सकते थे और हमारी सरकार में इतनी दूरदर्शिता नहीं थी कि वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और महिला विद्यापीठ की, जितनी परीक्षाएं वहां चलती हैं, उनकी पाठ्यपुस्तकें निःशुल्क वहां भिजवा सके। जब पुस्तकें ही नहीं होंगी तो पढ़ाई कैसे होगी ? उन लोगों ने अपनी कुछ पुस्तकें तैयार करवाई थीं, किन्तु बिना उपर्युक्त संस्थाओं की पाठ्यपुस्तकों के उनकी अपनी पुस्तकों से कैसे काम चल सकता था ! बीच में एक बार मैंने अनुरोध करके सब संस्थाओं की पाठ्यपुस्तकों के दस-दस सेट बिना मूल्य के मंगवाए थे और विदेश मंत्रालय की सहायता से रंगून भिजवाये थे, लेकिन बार-बार तो ऐसा हो नहीं सकता था।

श्रद्धेय काका साहेब कालेलकर के प्रति मन में गहरी आत्मीयता थी। वर्षों से मैं उनके निकट सम्पर्क में रहा। उन्होंने ही मेरी पुस्तक 'जय अमरनाथ' की सुन्दर भूमिका लिखी थी और उनके हाथों से ही मुझे नई दिल्ली के विज्ञान भवन में जैन संत एलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज के सान्निध्य में 'वीर निर्वाण भारती' पुरस्कार मिला था।

काका साहेब ने सारी दुनिया घूमी थी। लेकिन जापान के प्रति उनका विशेष लगाव था। वहां छह-सात बार हो आए थे। मैं जब कभी उनसे मिलता था, वह मुझसे आग्रह करते थे कि एक बार जापान जरूर जाइए। सन् १९८१ में टोकियो में विश्व शान्ति सम्मेलन हुआ, जिसमें 'जापान बुद्ध संघ' ने मुझे

जैन धर्म और गांधी-विचार-धारा के प्रतिनिधि के रूप में आमंत्रित किया। काका साहेब की इच्छा फलीभूत हुई। मैं जापान गया। सम्मेलन के अध्यक्ष-मंडल में उन लोगों ने मुझे सम्मिलित किया। सम्मेलन के प्रेरक शक्ति थे जापान के विख्यात संत फ्यूजीई गुरुजी। इंगलैण्ड से नोएल बेकर भी आए थे। ५६ देशों के लगभग १६० शान्तिवादी भाई-बहनों ने उसमें भाग लिया था। जापान के प्रतिनिधियों को मिलाकर तो उनकी संख्या ६०० से ऊपर हो गई थी।

खुले अधिवेशन में कई लोग बोले। मैं भी बोला। उसमें अमरीका के प्रतिनिधि ने रूस से और रूस के प्रतिनिधि ने अमरीका से अनुरोध किया कि वह शस्त्रों के तनाव को रोकें और विश्व में शान्ति स्थापित करने में सहायता करें। जब बोलने की मेरी बारी आई तो मैंने कहा, "अस्त्रों की यह होड़ तीन कारणों से है—भय, अस्तित्व की इच्छा और विस्तार की महत्वाकांक्षा। इनमें सबसे अधिक हैरान पैदा करने वाली चीज भय है। आप हिंसा की रेखा को इधर-उधर से मिटाकर छोटा करना चाहते हैं। आपके एक-दूसरे से अनुरोध करने से निरस्त्रीकरण नहीं होगा। आपको हिंसा की रेखा के नीचे उससे बड़ी अहिंसा की रेखा खींचनी होगी। तब हिंसा की रेखा अपने आप छोटी हो जायगी।"

आगे मैंने कहा, 'मैं जो कह रहा हूं, वह अव्यावहारिक बात नहीं है। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने अहिंसा की शक्ति को प्रकट किया था और वर्तमान युग में गांधीजी ने। उन्होंने अहिंसा को 'अमोघ अस्त्र' कहा था और खुलेआम एलान किया था कि दुनिया की कोई समस्या नहीं है, जिसे अहिंसा के द्वारा सुल-

झाया न जा सके। उन्होंने कहा था कि अहिंसा वीरों का अस्त्र है। वह मारने की नहीं, मरने की कला सिखाती है।"

अपने भाषण में मैंने महावीर के अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया था और गांधीजी के प्रेम और अपरिग्रह पर।

अधिवेशन के बाद बीसियों प्रतिनिधि मेरे पास आए। पूछते थे—महावीर कौन थे? उनका कहना था कि शान्ति के लिए हम जिन सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं, वे ठीक वही हैं, जो महावीर ने प्रतिपादित किये थे।

मेरी हीरोशिमा जाने की बड़ी इच्छा थी, जहां सन् १९४५ में अमरीका ने बम गिराकर लाखों व्यक्तियों को हताहत और जीवितों को अपंग कर दिया था। मैं टोकियो से बुलेट ट्रेन से गया, जिसने मुझे २००० किलोमीटर की दूरी छः घण्टे में पार करके वहां पहुंचा दिया। हीरोशिमा नगरी अब लहलहा रही है और उसे देखकर पता भी नहीं चलता कि आज से ४२ वर्ष पूर्व वहां बम गिरा था और भयंकर विनाश-लीला हुई थी; किन्तु जिस इंडस्ट्रियल हाउस के भवन पर बम गिरा था, वह उस हृदय-विदारक दुर्घटना की याद दिलाने के लिए यथापूर्व ध्वस्त खड़ी रक्खी गई है। उसके पास पत्थर की एक पटिया लगी है, जिस पर बम गिरने की तिथि आदि देकर अन्त में लिखा है—हम शान्तिवादियों की कामना है कि अब हीरोशिमा के दुर्दान्त काण्ड की पुनरावृत्ति न हो।

एक बम नागासाकी पर भी गिराया गया था। दोनों नगरों की विनाश-लीला की भयावह झांकी वहां के संग्रहालय में देखी जा सकती है। स्त्री, पुरुषों और बच्चों के शरीर की जो क्षति हुई, वह वहां के चित्रों आदि में दिखाई गई हैं। बम के धमाके

से इमारतें उड़ गईं और विकिरण (रेडिएशन) से नदियों का पानी खौल उठा। बम के धमाके से उछलकर गिरने वाले व्यक्तियों को जलाकर उस खौलते पानी ने उनकी आकृति को विकृत कर दिया। कहते हैं, वह दृश्य इतना भयंकर था कि बम गिराने वाले व्यक्ति के दिल की धड़कन कुछ समय बाद बन्द हो गई, वह मर गया।

संग्रहालय के निकट ही शहीदों का एक स्मारक है और उसी प्रांगण में एक ऑडिटोरियम है, जिसमें हीरोशिमा और नागासाकी से सम्बन्धित फिल्में जापानी और अंग्रेजी में दिखाई जाती हैं।

मैं कई परिवारों से मिला, जिन्होंने उस हत्या-काण्ड की यातना भोगी थी और आज भी भोग रहे थे। उनकी अबोध सन्तानें दुष्परिणामों से नहीं बची थीं। वे अपंगता का सामना कर रही थीं। किसी के कान खराब थे, तो किसी की आंखें, किसी की बांहों में खराबी थी तो किसी की टांगों में। लहलहाती हीरोशिमा की समृद्धि के स्वाद को ये आहें कड़ुवा बना रही थीं।

मेरी आंखें नगर की खुशहाली को देखती थीं, पर मन उसके पीछे छिपे इतिहास के खण्डहरों को देखता था। दिल में बार-बार एक हूक उठती थी।

बम गिराकर अमरीका ने जोरों का प्रचार किया था कि यदि उसने ऐसा नहीं किया होता तो द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त नहीं होता, इसलिए उसका यह कदम शान्ति स्थापना की दिशा का कदम था। जिन्होंने इस प्रचार का खण्डन किया, उनमें तीन व्यक्ति प्रमुख थे। जापान के फ्यूजीई गुरुजी, भारत के महात्मा गांधी और ब्रिटेन के बर्टेण्ड रसल। पर उनकी आवाज अरण्यरोदन के समान सिद्ध हुई और आज उस अणुबम से भी

कहीं अधिक संहारक अस्त्र तैयार हो गये हैं और हो रहे हैं।

शान्ति के लिए गुरुजी और उनके 'जापान बुद्ध संघ' ने जो कार्य किया, वह निस्संदेह सराहनीय था। गुरुजी ने सारे संसार में शान्तिवादियों की एक बहुत बड़ी सेना खड़ी कर दी। इतना ही नहीं, देश-विदेश में उन्होंने विशाल शान्ति-स्तूपों की स्थापना की और बौद्धमठ बनाये। सम्मेलन के अगले वर्ष 'राष्ट्र संघ' के निरस्त्रीकरण से सम्बन्धित विशेष अधिवेशन के अवसर पर, न्यूयार्क में संघ के भवन के सामने विश्व के लगभग दस लाख शान्तिवादियों ने जो प्रदर्शन किया था, उसके पीछे गुरुजी तथा उनके संघ की ही प्रेरणा थी।

सौ वर्ष की आयु के आस-पास के गुरुजी से कई बार मिलने का सौभाग्य हुआ। उनसे चर्चाएं भी कीं। वह जापानी बोलते थे और उनकी जापानी सेविका कात्स्यूबहन, जो काका साहब के पास रह चुकी थीं, हिन्दी में अनुवाद करती थीं और मेरी बात जापानी में उन्हें समझाती थीं। बाद में जब गुरुजी भारत आए और नई दिल्ली में 'सन्निधि' (राजघाट) में एक सभा का आयोजन किया गया तो उपस्थित लोगों को गुरुजी का परिचय मैंने ही दिया था। आज गुरुजी हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी प्रेरणाएं आज भी अपना काम कर रही हैं।

शान्ति सम्मेलन के अवसर पर मैंने अंग्रेजी में एक कविता भी लिखकर अधिकारियों को दी थी, जो बहुत पसन्द की गई। वह लोकगीत की तरह थी।

यहां मैं बौद्ध शिक्षु आकिरा नाकामूरा को नहीं भूल सकता, जो भारत में शान्ति के लिए काम करते हैं। उन्हीं के कारण मेरा यह प्रवास सम्भव हुआ। उन्होंने ही मेरे लगभग पांच सप्ताह के प्रवास को सब प्रकार से सुविधा-जनक बनाया तथा

विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों, नगरों और देहातों में घूमने की व्यवस्था की और कराई।

अब एक देश रह गया था चीन। वहां जाने की मेरे मन में बड़ी उत्सुकता थी। पं. सुन्दरलालजी चीन के अभिन्न मित्र थे। उन्होंने बहुत वर्ष पहले वहां जाने के मुझे दो अवसर दिये, पर मैं कुछ कारणों से उनका लाभ नहीं ले सका। एक बार मास्को से वहां जाने की सोची, लेकिन यूरोप में घूमते-घूमते थक गया था, इसलिए सारी तैयारी हो जाने पर भी टाल गया।

सन् १९८३ के अन्त में आखिर वह मौका आ ही गया। चीन की 'विदेशों से मैत्री सम्बन्ध-परिषद' ने एक भारतीय प्रतिनिधि मंडल को चीन आने का निमन्त्रण भारत-चीन-मैत्री परिषद को भेजा, जिसके अध्यक्ष उड़ीसा के राज्यपाल श्री विश्वम्भरनाथ पांडे हैं। उन्होंने उस प्रतिनिधि मंडल में मुझे भी सम्मिलित किया और इस प्रकार एक सप्ताह की थाईलैण्ड और हांगकांग की और दो सप्ताह की चीन की यात्रा हुई। कह सकता हूं कि चीन के साथ कुछ मामलों में मतभेद होते हुए भी वह यात्रा मेरे लिए स्मरणीय बनी। वहां हम कई प्रमुख नगरों में गए, देहातों में गए और वहां के प्रत्येक क्षेत्र में छलछलाती युवा-शक्ति को देखकर मैं दंग रह गया। युवक और युवतियों का अनुशासन, कर्त्तव्य-निष्ठा और देश-भक्ति अद्भुत थी। अपनी एक अरब से ऊपर की आबादी को उन्होंने किस प्रकार नियन्त्रित किया है, वह हमारे लिए प्रेरणादायक हो सकती है। गरीबी वहां भी है और देश के कुछ भागों में तो वह हद दर्जे की है, किन्तु इतने दिनों में मैंने एक भी भिखारी हाथ फैलाते नहीं देखा। समय की पाबन्दी उनकी देखते ही बनती थी।

यह ठीक है कि वहां सबकुछ सरकार के इशारे पर होता

है और वहां के निवासियों को प्रत्येक क्षेत्र में बंधनों के बीच रहना पड़ता है, मैं स्वयं कण्ठ की स्वाधीनता और मानव की उन्मुक्तता का पक्षपाती हूं, लेकिन उच्छृंखलता, अनुशासन-हीनता, कर्त्तव्य-विमुखता आदि को मैं व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सबके लिए विघातक मानता हूं।

विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में जापान ने जो चमत्कार कर दिखाया है, वह मुझे चीन में दिखाई नहीं दिया। पर इसमें कोई शक नहीं कि चीन तेजी से आगे बढ़ रहा है, फिर भी अपनी मंजिल तक पहुंचने में उसे समय लगेगा।

विदेश-यात्राओं से मुझे दोहरा लाभ हुआ। एक तो यह कि दुनिया में जो कुछ हो रहा है, वह देखने का मौका मिला। दूसरे, विभिन्न देशों में मुझे भारत का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की सुविधा हुई।

एक घटना मुझे याद आती है। कैनेडा में एक दैनिक पत्र है 'टोरंटो स्टार'। लगभग ६४ पृष्ठ का प्रति-दिन निकलता है। शनिवार को लगभग ३०० पृष्ठ रहते हैं। रविवार को बन्द रहता है। सन् १९७२ में जब मैं वहां गया तो उस पत्र के विदेश-सम्पादक ने मुझे अपने कार्यालय में आमंत्रित किया। मैं गया। उन्होंने अपना प्रेस दिखाया, सम्पादकों से मिलाया, अन्त में हमलोग उनके कमरे में बैठकर बातें करने लगे। उन्होंने पूछा, "क्या आपने हमारे पत्र की देखा है ?" मैंने कहा, "पन्द्रह दिन से उसी पत्र को पढ़ रहा हूं।" आगे उन्होंने पूछा, "कैसा लगता है ?" मैंने औपचारिक ढंग से कह दिया, "अच्छा है।" उन्होंने कहा, "नहीं, मैं आपकी साफ-साफ राय चाहता हूं।" मैंने गम्भीर होकर कहा, "सच पूछते हैं तो मुझे आपका पत्र पसन्द नहीं है।" उन्होंने विस्मय से पूछा, "क्यों ?"

मैंने कहा, "देखिए, मैं बहुत दिनों से देश से बाहर हूं। मैं अपने देश का समाचार पाना चाहता था, पर इतने दिनों में आपके पत्र में एक शब्द भी भारत के बारे में दिखाई नहीं दिया।"

इतना सुनकर वह तैश में आ गए। बोले, "क्या आपके पत्र कैनेडा के बारे में कुछ छापते हैं ?" मैंने कहा, "मित्र, मेरा दावा है कि हिन्दुस्तान का औसत शिक्षित आदमी कैनेडा के बारे में जितना जानता है, उतना कैनेडा का शिक्षित आदमी भी हिन्दुस्तान के बारे में नहीं जानता।"

कुछ रुककर मैंने उनसे पूछा, "आप इतने बड़े पत्र के सम्पादक हैं। मैं पूछता हूं कि क्या आप उस मौन क्रान्ति को जानते हैं, जो भारतवर्ष में हो रही है ?"

"कौन-सी क्रांति ?" उनका प्रश्न था।

मैंने कहा, "हमारी प्रधान मन्त्री गरीबी और बेकारी को दूर करने के लिए जी-जान से जुटी हैं। आपके यहां भी वही समस्याएं हैं। आपको भारत में दिलचस्पी होनी चाहिए।"

वह महानुभाव मेरी बात सुनकर कुछ हतप्रभ-से हो गए। बोले, "आप ठीक कहते हैं। मुझे उसकी जानकारी होनी चाहिए।" फिर बोले, 'क्या आप एक बार फिर आ सकेंगे ?" मैंने कहा, "कह नहीं सकता। अब मुझे भारत जाने की तैयारी करनी है।"

एक घटना और भी बड़े मार्के की है। एक दिन हमलोग कहीं से लौट रहे थे। रास्ते में मेरे लड़के सुधीर ने कहा, "बाबूजी, चलिए, एक-एक प्याला चाय पीते चलें।" मैंने कहा, "ठीक है।"

हमलोग एक रेस्तरां में गए। सुधीर ने काउण्टर पर खड़ी दो किशोरियों से कहा, "खाने की कुछ ऐसी चीजें दे

दीजिए, जिनमें मांस या अण्डा न हो। मेरे माता-पिता न मांस खाते हैं, न अंडा।"

उन दोनों ने उत्सुकता से सुधीर की ओर देखा और पूछा, "क्या कोई शाकाहारी भोजन पर जिन्दा रह सकता है ?"

सुधीर ने उत्तर दिया, "मुझसे क्या पूछती हैं ? मेरे साथ आइये और मेरे पिताजी और माताजी से स्वयं बात कर लीजिए।"

इसके बाद उनमें से एक बहन हमारे पास आयी और बोली, "आपके लड़के ने बताया है कि आप पूरी तरह शाकाहारी हैं। न मांस खाते हैं, न अंडा खाते हैं। आपकी उम्र कितनी है।"

मैंने कहा, "मैं लगभग ६९ वर्ष का हूं।"

उसने कौतूहल से मेरी तरफ देखा। बोली, "हमें तो हमेशा यही बताया गया है कि शाकाहारी भोजन से आदमी दुर्बल हो जाता है और अधिक दिन नहीं जीता, पर मैं देखती हूं कि आप शाकाहारी हैं और इस उम्र में भी आपकी सेहत इतनी अच्छी है। ओफ, हमें कितनी गलत जानकारी दी गई है!"

आगे उसे और कोई सवाल करने या कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई और वह नई जानकारी से खुश होकर चली गई। मैं सोचता रहा कि अपनी अजानकारी अथवा अज्ञान के कारण हम कितने भ्रम पालते रहते हैं।

सन् १९७२ में जब मैं सपत्नीक कैनेडा गया तो मुझे सूरीनाम, गयाना और ट्रिनीडाड तथा टुबेगो (कैरेवियाई देशों) से निमंत्रण मिला। मैं वहां गया। सूरीनाम में भारतवंशी बहुत बड़ी संख्या में हैं। मैं सबसे पहले वहीं गया। वहां के भारतीय समाज ने वेद-मंत्रों से मेरा स्वागत किया। आठ-दस दिन

रहा। हिन्दी के अनन्य प्रेमी और भारतीय संस्कृति के उपासक भाई महातम सिंह ने सारी व्यवस्था की। अनेक सार्वजनिक सभाएं कीं, गोष्ठियां कीं और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि की परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्र-छात्राओं को प्रमाण-पत्र तथा पुरस्कार आदि दिलवाये। वहां पर हिन्दी के प्रचार का काम कई निष्ठावन व्यक्ति कर रहे थे। आर्य समाज तथा सनातन धर्म सभा की प्रवृत्तियां भी महत्वपूर्ण थीं। अब तो वहां भारतीय संस्कृति के सम्वर्धन तथा हिन्दी के प्रचार के लिए 'माता गौरी संस्थान' की स्थापना की गई है। महातम सिंह मुझे उसकी जमीन दिखाने ले गये थे, अब उस पर विशाल भवन का निर्माण हो गया है और उसकी प्रवृत्तियां भी चालू हो गई हैं। देश स्वतंत्र है और बड़ा सुन्दर है। भारतवंशी राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और सार्वजनिक जोवन में विशेष स्थान रखते हैं। मेरे कई कार्यक्रम रेडियो और दूरदर्शन पर हुए।

सूरीनाम से मैं गयाना गया। वहां आने का निमन्त्रण मुझे 'गांधी एसोसियेशन' के संचालक डा. बलवन्त सिंह ने दिया था। बलवन्त सिंह सरकार विरोधी खेमे में थे। इसलिए वहां की सरकार ने मेरे आने पर पाबन्दी लगा दी। बाद में हमारे राजदूतावास के उच्चायुक्त ने मेरे आतिथेय का दायित्व अपने ऊपर लिया और मुझे वहां जाने की अनुमति मिल गई।

गयाना में मैं एक सप्ताह रहा। भारत के सांस्कृतिक अधिकारी योगिराज ने उच्चायुक्त की ओर से सारा प्रबन्ध किया। मजे की बात यह हुई कि वहां जो सार्वजनिक सभा की गई, वह 'गांधी एसोसियेशन' के हॉल में ही की गई और उसमें अनेक सरकारी अधिकारियों के साथ बलवन्त सिंह और उनका परिवार भी सम्मिलित हुआ। मैंने 'भारतीय संस्कृति के उन्नयन में गांधी का योगदान' विषय पर एक घण्टा भाषण

दिया। चूंकि अधिकांश श्रोता हिन्दी नहीं जानते थे, इसलिए प्रारम्भ में दो-तीन मिनट हिंदी में बोलकर शेष भाषण मैंने अंग्रेजी में दिया। वहां के प्रमुख नगरों में संचालित हिन्दी के केन्द्रों तथा भारतीय संस्कृति के संस्थानों को देखा। गयाना की राजधानी जार्जटाउन है। वह अब एक स्वतन्त्र देश है।

किन्तु सबसे अधिक स्मरणीय घटना वहां के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री डा. छेदी जगन से भेंट-मुलाकात और वार्त्ता थी। वह एक घण्टा चालीस मिनट तक विभिन्न विषयों पर बातें करते रहे। वह सात वर्ष तक वहां प्रधान मन्त्री रहे थे। उस समय गयाना स्वतन्त्र नहीं था, 'डच गयाना' कहलाता था। अब वह विपक्ष के नेता थे। मैंने उनसे पूछा कि सात वर्ष के प्रधान मन्त्रित्व में आप भारतीय समुदाय की इतना संगठित क्यों नहीं कर पाये कि वह आपका साथ देता? उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि यहां के अधिकांश भारतीय खेतिहर हैं। अपनी भूमि की सुरक्षा के लिए वे जिधर पलड़ा भारी देखते हैं उधर झुक जाते हैं। दूसरे, मैंने अपने सात वर्ष अपनी कुर्सी के बचाने में खर्च किये, जबकि अवसर आने पर मेरे सहयोगियों ने गयाना की स्वतन्त्र करने का नारा दिया। उनका नारा काम कर गया और वह सत्ता में आ गये।

उस लम्बी मुलाकात में जब मैंने उनसे कहा कि आप पांच वर्ष तक राजनीति से अगल होकर रचनात्मक कार्यों में अपना समय क्यों नहीं लगाते तो उन्होंने हंसकर कहा, "आप पांच वर्ष तक राजनीति से अलग रहने की बात करते हैं! स्थिति यह है कि एक दिन भी राजनीति से अलग रहना अपनी राजनैतिक मृत्यु को बुलावा देना है।"

छेदी जगन युवा हैं, ऊर्जा से भरपूर, निर्भीकता के पुतले।

मैंने कहा, "आप चारों ओर से विरोधियों से घिरे हैं। आपको डर नहीं लगता ?" बोले, "डर किस बात का ? मौत को कौन रोक सकता है ? वह कभी भी और कहीं भी आ सकती है।"

उनका हौसला देखकर मुझे अच्छा लगा। मैंने चलते-चलते कहा, "आप प्रधान मन्त्री की हैसियत से भारत आये थे। अब कब आ रहे हैं ?" बोले, "देखिये, उसका सुयोग कब मिलता है !"

गयाना से मैं ट्रिनीडाड और टोबेगो गया। वहां के हवाई अड्डे, पोर्ट ऑफ स्पेन, पर भारत-वंशियों ने बड़ी संख्या में उपस्थित होकर मेरा स्वागत किया। उसके पीछे मूल प्रेरणा प्रो. हरिशंकर 'आदेश' की थी। वह अनेक वर्षों से भारत के सांस्कृतिक अधिकारी के रूप में काम करते रहे थे। उनको रुचियां बड़ी व्यापक हैं। शिक्षा, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि में उनकी गहरी पैठ है। हिन्दी में 'ज्योति' नामक एक पत्रिका निकालते हैं। मेरे वहां पहुंचते ही उन्होंने अपनी पत्रिका का साइक्लो स्टाइल किया विशेषांक निकाला।

ट्रिनीडाड में लगभग एक सप्ताह रहा। वहां सर्वप्रथम उन्होंने गांधीजी की प्रतिमा पर मुझसे पुष्प अर्पित कराये। काफी लोग इकट्ठे हो गये थे। उन्हें मैंने सम्बोधित किया। बाद में वहां के गांधी-टैगोर कालेज में मेरा भाषण कराया। और भी अनेक संस्थाओं और मन्दिरों में ले गये। उस देश में हिन्दी का चलन सीमित है। इसलिए मुझे सब जगह अंग्रेजी में बोलना पड़ा।

आदेश और उनकी पत्नी की इतनी लोकप्रियता है कि उनके इर्द-गिर्द उनके शिष्यों की बहुत बड़ी जमात बन गई है। संगीत और नृत्य के लिए वहां सभी वर्गों में ललक है। कई

केन्द्र देखे। भारतीय संगीत और भारतीय नृत्य का इस दम्पती ने अच्छा प्रचार-प्रसार किया है।

मेरे पास समय कम था, फिर भी आदेश ने टुबेगो ले जाने का आग्रह किया। कैरेबियन सागर में वह एक छोटा-सा, थोड़ी आवादी का, ऐतिहासिक द्वीप है। प्राकृतिक सौंदर्य तो वहां का गजब का है। मोटर-बोट से मुझे समुद्र में ले गये। बोट में ऐसी व्यवस्था है कि आप नीचे गहरे पानी में झांककर मछलियों और उनके घरों को देख सकते हैं। तरह-तरह की रंग-बिरंगी मछलियों को इधर-उधर दौड़ते देखकर बड़ा आनन्द आया। उससे अधिक आनन्द मिला उनके घरों को देखकर। कितने कलापूर्ण थे वे घर। उससे भी अधिक विस्मयजनक था 'स्विमिंग पूल', जो समुद्र के बीच में था। स्नान करने के मीठे जल की वह गर्दन तक गहरे पानी की धारा थी। वहां बोट से उतरकर हमने स्नान किया। उस धारा में मछलियां खूब थीं। उनकी अठखेलियां देखने के लिए हमने अपने चेहरों पर मास्क लगा लिये थे। मछलियों के घर देखते ही बनते थे। वहां पूरा दिन बिताकर शाम के विमान से हम लौट आये।

तीनों देशों में मेरा जो समय बीता, वह बड़ा सुखद था। वहां के प्रमुख भारतवंशी चाहते थे कि मैं उन देशों को एक-एक महीना देकर तीन महीने उनके बीच बिताऊं। मैंने स्वीकृति भी दी, पर भारत लौटने पर अपनी व्यस्तताओं के कारण समय निकालना सम्भव नहीं हो सका। लेकिन मैं अनुभव करता हूं कि भारत से लगभग सोलह हजार मील पर बसे उन देशों में भारत के प्रबुद्ध व्यक्तियों और कलाकारों को जाना और भारतवंशियों के साथ सम्पर्क बढ़ाना चाहिए। वहां भारत के लिए बड़ा आदर है, मान है। भारतीय संस्कृति को आज भी उन्होंने सुरक्षित रक्खा है।

१२ / संस्थाओं में सहयोग

मैं पहले ही बता चुका हूं कि अपनी पढ़ाई पूरी करके दिल्ली आने पर मैंने 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना की थी। वह शैक्षिक संस्था थी। फिर सन् १९४८ में 'दिल्ली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का गठन किया। पांच छात्रों के उसके वर्ग का उद्घाटन विनोबा ने किया था। दादाजी (बनारसीदासजी चतुर्वेदी) जब राज्य सभा के सदस्य होकर दिल्ली आए तो उन्होंने 'हिन्दी भवन' की स्थापना की। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने जहां हजारों अहिन्दी भाषी भाई-बहनों को हिन्दी पढ़ाई, वहां 'हिन्दी भवन' ने साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। इन दोनों ही संस्थाओं के संस्थापक सदस्यों में मैं था और उनका उपाध्यक्ष रहा। आज भी 'राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति' का उपाध्यक्ष हूं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के पीछे यदि राघवन-दम्पती (एस. आर. एस. राघवन तथा उनकी पत्नी राजलक्ष्मी राघवन) और उनकी सन्तति की साधना है तो हिन्दी भवन के पीछे बहन सत्यवती मल्लिक का अनवरत परिश्रम रहा, यद्यपि मूल प्रेरक तो दादाजी ही थे। उनके राज्य सभा के कार्य-काल में हिन्दी भवन ने अच्छी उन्नति की। एक विशाल पुस्तकालय बनाया, बड़ी-बड़ी गोष्ठियां कीं, लेखकों का अभिनन्दन किया, किन्तु दादाजी के दिल्ली से चले जाने के बाद उसकी जिम्मेदारी श्री बांके बिहारी भटनागर ने ले ली और फिर उसके पुस्तकालय आदि को बहावलपुर हाउस में सुरक्षित कर दिया गया।

सन् १९५१ में साहित्य, संस्कृति और कला को प्रोत्साहन देने के लिए मेरे अनुज वीरेन्द्र प्रभाकर ने 'चित्रकला संगम' नामक एक संस्था स्थापित की। इस संस्था ने राजधानी में जो सेवा की, उसे सब जानते हैं। चित्रों की प्रदर्शनियां, निबन्ध-प्रतियोगिताएं, आशु चित्रांकन, साहित्यकारों तथा कलाकारों का सम्मान, नेहरूजी की जयंती के उपलक्ष्य में बाल-दिवस आयोजन, ऐसे दर्जनों कार्य इस संस्था ने किये। अंतर्राष्ट्रीय बाल-दिवस के उसके आयोजन तो आज भी दिल्ली के नागरिक याद करते हैं। राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपतियों की आवक्ष प्रतिमाएं 'चित्रकला संगम' द्वारा ही प्रदत्त हैं। पीछे के पृष्ठों में हम बता चुके हैं कि स्व. लालबहादुर शास्त्री की एक आवक्ष प्रतिमा उनके निधन-स्थल पर लगाने के लिए 'चित्रकला संगम' ने ही तैयार करवाई थी और उसी का प्रतिनिधि-मण्डल उस प्रतिमा को लेकर रूस गया था।

मुझे याद आता है कि एक बार बाल-दिवस के अवसर पर बच्चों की एक आशु चित्रांकन प्रतियोगिता कराई गई थी। उसका विषय था—नेहरू और उनका भारत। बच्चों ने बड़े सुन्दर चित्र बनाये। हमलोगों की स्वाभाविक इच्छा हुई कि चित्रों को जवाहरलालजी देख लें। उनके पास समय का अभाव था। इसलिए उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि उनके निवास-स्थान पर 'तीन मूर्ति भवन' में उन चित्रों का प्रदर्शन कर दिया जाय। उसकी व्यवस्था कर दी गई। पंडितजी आए, साथ में इंदिराजी भी थीं। उन्होंने उन चित्रों को बड़े ध्यान और दिलचस्पी से देखा। वे किसी चित्र को देखकर मुस्कराते थे तो कभी किसी चित्र को देखकर गम्भीर हो जाते थे। लेकिन एक चित्र ने उन्हें पकड़ लिया। किसी बच्चे ने उनका वह चित्र बनाया था,

जिसमें वह अपना बांया हाथ उठाकर कलाई में बंधी घड़ी में बड़ी तन्मयता से समय देख रहे हैं। उस चित्र को पंडितजी काफी देर तक देखते रहे, मानो पुराने इतिहास के पृष्ठ उनके सामने खुल गए हों। मैं उनके साथ-साथ चल रहा था और चित्रों का परिचय दे रहा था। घड़ी वाले चित्र को देखकर उन्होंने जिस निश्च्छल और बालसुलभ मुस्कराहट से मेरी ओर देखा, वह क्षण मैं कभी भूल नहीं सकता। इस साधनहीन संस्था ने जो काम किया, वह कोई बड़ी-से-बड़ी संस्था भी नहीं कर सकती थी। उसने कुछ ग्रंथ भी निकाले, जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई।

सन् १९७४ में भगवान महावीर का पच्चीससौवां निर्वाण महोत्सव मनाया गया। वह पूरे वर्ष चला। उसके लिए एक राष्ट्रीय समिति बनी, जिसकी अध्यक्ष प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी थीं। उस समय प्रो. नूरुल हसन केन्द्रीय शिक्षा मंत्री थे और प्रो. डी. पी. यादव उपशिक्षा मंत्री। वे इस आयोजन के मुख्य कर्त्ताधर्त्ता थे। राष्ट्रीय समिति में दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी और स्थानकवासी, चारों आम्नाय के सदस्य थे। उनमें मैं भी था। इस समिति की एक छोटी-सी प्रबन्ध समिति थी। उसमें भी मैं था। हमलोगों को प्रकाशन का काम सौंपा गया। सरकार ने पचपन लाख रुपये देने की घोषणा की, जैन समाज ने भी करोड़ों रुपये खर्च किये, लेकिन राष्ट्रीय समिति ने जो कार्यक्रम निश्चित किये थे, वे पूरे नहीं हो पाये। मुझे सबसे अधिक लज्जा इस बात की है कि प्रकाशन का जो दायित्व हमें सौंपा गया था, उसके अन्तर्गत एक भी पुस्तक नहीं निकली।

महावीर स्मारक का भवन भी आज किसी कर्मठ व्यक्ति की राह देख रहा है।

अखिल भारतीय जैन महासभा ने भी कुछ प्रदर्शनात्मक कार्यक्रम करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। इस सभा का भी मैं सदस्य था।

इस उपक्रम के सम्बन्ध में एक बात मुझे बार-बार याद आती है। जाने कितनी बार कहा गया कि इस महोत्सव का आरम्भ अमुक तिथि से होगा और उसका समापन अमुक तारीख को किया जायेगा। मैंने सार्वजनिक मंच से बार-बार इस बात को दोहराया कि यह मत कहिए कि अमुक तारीख को समापन होगा। कहिए कि उस तारीख से महावीर-युग का श्रीगणेश होगा। मेरे कहने का आशय यह था कि वर्ष भर इतना सघन कार्य हो कि उससे युग प्रभावित हो और महावीर के सिद्धान्त राष्ट्र के जीवन में उतरें। मेरी निश्चित मान्यता है कि पूरे जैन समाज ने अपने तंग दायरों से ऊपर उठकर उस वर्ष में अहिंसा आदि को तेजस्वी बनाया होता तो अवश्य ही एक नये युग का आरम्भ होता। किन्तु ऐसा हुआ नहीं।

एक दूसरी बात मैंने और कही थी कि महावीर को जैन-समाज की तंग परिधि से मुक्त कीजिये। महावीर जैन कौन थे, कोई नहीं जानता। उन्होंने अपने नाम के आगे कभी 'जैन' नहीं लगाया। उनके समव-शरण (धर्म सभा) में किसी भी धर्म का व्यक्ति आ सकता था। मनुष्य ही नहीं, जीव-जन्तु तक आ सकते थे, आते थे। पर जैन समाज इतना साहस, इतनी दूरदर्शिता नहीं दिखा सका।

एक अखिल भारतीय संस्था 'भारतीय साहित्य परिषद' बहुत समय से काम करती आ रही थी। उसकी दिल्ली शाखा का मुझे अध्यक्ष बनाया गया। उसकी बहुत-सी गोष्ठियां हुईं, जिनमें नई पुस्तकों की समीक्षाएं की गईं और उनके साहित्यिक

प्रश्नों पर सांगोपांग विचार-विमर्श किया गया। दिल्ली से बाहर भी उसके समारोह हुए। साल भर तक खूब काम हुआ, लेकिन आपात-स्थिति के दिनों में यह संस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

सन् १९५१ में भूदान के साथ-साथ एक-दूसरे अहिंसक क्रांति के आंदोलन का सूत्रपात हुआ था। वह आंदोलन था अणुव्रत का, जिसके प्रवर्तक हैं तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य तुलसी गणी। इस आंदोलन का मुख्य हेतु था—छोटे-छोटे व्रतों द्वारा मानव-जीवन को परिष्कृत करना। आचार्य तुलसी तथा उनके अंते-वासी साधु-साध्वियों ने अणुव्रत के प्रचार-प्रसार के लिए उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक हजारों मील की पैदल यात्रा की। उस विचार को घर-घर पहुंचाया। उसमें जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं था। जो सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करे, वह अणुव्रती बन सकता था। सभी धर्मों के लोग उसकी ओर आकृष्ट हुए। एक विशाल परिवार बना। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब थे। राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल प्रभृति नेताओं को भी वह आंदोलन पसन्द आया।

आरम्भ में मैं उसकी ओर से उदासीन था। मानता था कि अपने-अपने धर्म-संघ और तेरापंथ के प्रचार के लिए आचार्य तुलसी ने यह कदम उठाया है; लेकिन ज्यों-ज्यों उस आंदोलन को निकट से देखने का मुझे अवसर मिला, मेरी भ्रांति दूर होती गई और मैं उसके नजदीक पहुंचता गया। धीरे-धीरे मैं सक्रिय रूप में उसमें सहयोग देने लगा। आचार्य तुलसी ने दिल्ली में एक विशेष समारोह में मुझे 'अणुव्रत-प्रवक्ता' की उपाधि प्रदान की और फिर मुझे अखिल भारतीय सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया।

मैंने वर्ष भर में देश के विभिन्न भागों में खूब दौरे किये और अणव्रत का संदेश जन-जन तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। अपनी अध्यक्षता के दौरान मैंने तीन कार्यक्रम ऐसे अपनाये, जिनका सम्बन्ध पूरे समाज के कल्याण से आता था। उनमें एक था साक्षरता का प्रचार, दूसरा था मद्य-निषेध का और तीसरा दहेज उन्मूलन का। उसके लिए मैंने और मेरे सहयोगियों ने अच्छा वायुमण्डल बनाने का प्रयास किया, लेकिन काम में आगे चलकर वह गति नहीं रही।

आचार्य तुलसी, उनके उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ, साध्वीप्रमुखा कनकप्रिया तथा अन्य साधु-साध्वियों के प्रति मेरे मन में बड़ा स्नेह और आदर है। वे सब भी मेरे प्रति बड़ी आत्मीयता रखते हैं। अणुव्रत के अनेक अधिवेशनों तथा समारोहों में मैं सम्मिलित होता रहता हूं। अखिल भारतीय अणुव्रत सम्मेलन का मैं अब उपाध्यक्ष हूं। 'अणुव्रत' पाक्षिक पत्रिका का परामर्श-दाता सम्पादक हूं।

श्रद्धेय काका साहेब कालेलकर का मैं अत्यन्त प्रशंसक रहा हूं। उनके जीवन-काल में दो अभिनन्दन-ग्रन्थ हमलोगों ने प्रकाशित किये थे। पहला था 'संस्कृति के परिव्राजक' और दूसरा 'समन्वय के साधक'। दोनों ही ग्रन्थ बहुत विशाल थे और उनसे काका साहेब के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता था।

काका साहेब ने मुझे अपनी 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' में सम्मिलित किया और उनके निधन के उपरान्त जो 'आचार्य काका कालेलकर स्मारक-निधि' स्थापित की गई, उसके प्रधान सचिव का दायित्व मुझे सौंपा गया।

दो और संस्थानों का उल्लेख करना आवश्यक है। उनमें पहला है 'राष्ट्रीय पुस्तक न्यास' (नेशनल बुक ट्रस्ट)। यह संस्थान स्वायत्तशासी है और इसने पुस्तकों के प्रकाशन के साथ-साथ पुस्तकों के दूसरों द्वारा निकाले जाने में पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है। इस संस्थान ने पुस्तक-मेलों का भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन किया है और पुस्तकें पढ़ने की आदत को बढ़ावा देने के लिए बड़ा काम किया है, अब भी कर रहा है। उसका मैं ट्रस्टी हूं।

दूसरा संस्थान भी उसी प्रकार स्वायत्तशासी है—'राष्ट्रीय पुस्तक-विकास परिषद' (नेशनल बुक डेवलपमेंट कौंसिल)। इस संस्थान को हाल ही में पुनर्जीवित किया गया है और उसके द्वारा पुस्तक-व्यवसाय को अधिकाधिक क्रियाशील बनाने की चेष्टा की जा रही है। इस संस्थान का भी मैं एक सदस्य हूं।

हमलोगों ने स्वयं एक छोटी-सी संस्था की स्थापना की थी 'यात्रिक संघ'। यह उन व्यक्तियों की संस्था थी, जिनकी पर्यटन में गहरी अभिरुचि थी। वे ही इसके सदस्य हो सकते थे। इस संस्था का उद्देश्य पर्यटन की व्यवस्था करना और पर्यटकों को सुविधा प्रदान करना था। पर हमलोगों की व्यस्तता के कारण यह संस्था बहुत आगे नहीं बढ़ सकी।

इसी प्रकार एक और संस्था का संगठन किया था 'अखिल भारत-बर्मा-साहित्य-कला-परिषद।' इसके द्वारा हम भारतीय-बर्मी साहित्य और कला का आदान-प्रदान करना चाहते थे, पर यह संस्था भी कुछ दिन काम करके समाप्त हो गई।

'दिल्ली नागरिक परिषद' की कार्य समिति का मैं इस समय भी सक्रिय सदस्य हूं। इस संस्था का ध्येय नागरिकों की कठिनाइयों को दूर करना है और युवा-शक्ति को जाग्रत करना

तथा संगठित करना है।

दिल्ली में एक संस्था है 'विश्व युवक केन्द्र।' युवकों की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए इस केन्द्र ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज भी निभा रहा है। विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ-साथ वहां पर आवास की भी व्यवस्था है। मैं इस संस्था का ट्रस्टी हूं।

और भी अनेक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं से मैं जुड़ा हूं। राजनीति में मेरी केवल इतनी रुचि है, जितनी एक लेखक के नाते होनी चाहिए, लेकिन साहित्य, संस्कृति और कला को मैं किसी भी देश की आत्मा मानता हूं और उनकी अभिवृद्धि में मेरा हमेशा सहयोग रहता है। देश के विभिन्न भागों में फैली अनेक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं ने मुझे अपना संरक्षक बना रक्खा है। उनमें जब-तब आना-जाना रहता है।

१३ / एक अभिनव आयोजन

सन् १९७२ में जब मेरे जीवन के साठ वर्ष पूरे हुए तो अनेक हितैषी बन्धुओं ने मेरी षष्टि पूर्ति के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन ग्रंथ निकालने की योजना बनाई। भारतीय जीवन में साठ वर्ष पूर्ण होना एक विशेष महत्व का अवसर माना जाता है। कहावत है 'साठा सो पाठा', पर मुझे तो कुछ लगा नहीं। उम्र के जैसे और वर्ष बीतने पर कोई विशेष बात नहीं जान पड़ती, वैसे ही साठ वर्ष पूरे होने पर कोई खास अनुभूति नहीं हुई। अतः जब मेरे स्नेही बन्धुओं ने मुझसे ग्रंथ की

चर्चा की तो मैंने इन्कार कर दिया। मेरा जीवन एक सामान्य व्यक्ति का जीवन रहा था। यह ठीक है कि मैं बचपन से ही कुछ मूल्य सामने रखकर चला था और ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गई, वे मूल्य गहराई से मेरे जीवन में समाते गये, किन्तु वह कोई ऐसी विशेषता नहीं थी कि जिसे लेकर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय और उस पर हजारों रुपये खर्च किये जाएं। उन रुपयों को किसी अन्य समाजोपयोगी कार्य पर लगाया जा सकता था।

जब बहुत आग्रह हुआ तो मुझे एक रास्ता सूझा। मैंने उन बन्धुओं से कहा, "यदि आप कुछ करना ही चाहते हैं तो एक काम कीजिए। राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला, धर्म, अध्यात्म, आदि-आदि क्षेत्रों में मेरे प्रति प्रेम रखने वाले महानुभावों को एक ही आकार का एक-एक बड़ा कोरा कागज भेजिये और उनसे अनुरोध कीजिए कि वे अपने हाथ से लिखकर अपनी मंगलकामनाएं आपको भेज दें। उन कागजों को इकट्ठा करके आप मुझे दे दीजिये। आपकी इच्छा पूरी हो जायेगी और मुझे अपने जीवन की एक अनमोल निधि मिल जायेगी।"

मेरे हितैषियों को यह विचार बहुत पसन्द आया। उन्होंने मेरे बुजुर्गों, मित्रों, बन्धु-बांधवों, कुटुम्बीजनों आदि को एक-एक कोरा कागज भेजा और अनुरोध किया कि वे यथासम्भव अपने हाथ से अपने आशीर्वाद, उद्गार अथवा भावनाएं लिख भेजें। देश-विदेश में मेरे प्रति अनुराग रखने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत वड़ी थी। उनमें से जितनों के पते मिल सकते थे, उन्हें कागज भेजे गये।

आयोजकों का अनुमान था कि थोड़े-से कागज वापस आ

जायेंगे, किन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि जितने व्यक्तियों को लिखा गया था, प्राय: सबने अपने हाथ से लिखकर न केवल अपने मंगल वचन भेजे, अपितु और भी बहुत कुछ लिख भेजा।

उन कागजों को इकट्ठा करके एक विशाल हस्तलिखित ग्रन्थ तैयार किया गया। एक विख्यात कलाकार से उसकी साज-सज्जा करवाई, बढ़िया आवरण बनवाया, बहुत-से चित्र (फोटो) दिये और एक बड़ा अनोखा ग्रंथ बना दिया। नाम रक्खा 'समन्वयी साधु साहित्यकार।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के लिए वह एक अनूठी चीज थी। देश-विदेश के विभिन्न क्षेत्रों के इतने ख्यातिनामा विशिष्ट व्यक्तियों की हस्त-लिपि में इतना विपुल संग्रह किसी बड़े-से-बड़े संग्रहालय में भी शायद ही उपलब्ध हो।

सितम्बर १९७२ में नई दिल्ली के कान्स्टीट्यूशन क्लब के लॉन पर एक विशाल आयोजन किया गया। उसकी अध्यक्षता तत्कालीन रक्षामंत्री श्री जगजीवन राम ने की। उस समारोह में राजधानी तथा बाहर के प्रमुख साहित्यकार, राजनेता, पत्रकार और गण्यमान्य नागरिक बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

आज उस समारोह का स्मरण करता हूं तो मेरा मन अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठता है। वह भारी भरकम ग्रन्थ तो प्रेम से भरा ही था, उपस्थित व्यक्तियों में से अनेक महानुभावों ने अपने प्रेम की वर्षा करके मुझे सराबोर कर दिया। सभी वक्ता बड़ी आत्मयीता से बोले। उन सबके, विशेषकर मेरे बचपन के साथी जगदीश चन्द्र माथुर और मेरे परम हितैषी बन्धु श्री प्रकाशवीर शास्त्री के मुस्कराते चेहरे आज भी मेरी आंखों के सामने घूम जाते हैं और उनकी मधुर तथा ओजस्वी

वाणी प्रायः मेरे कानों में गूंज उठती है ।

जब श्री जगजीवन राम ने बड़े प्रेम से वह ग्रन्थ मुझे भेंट किया तो बहुत देर तक तालियों की गड़गड़ाहट होती रही। जगजीवनरामजी बड़े प्रभावशाली वक्ता थे । उन्होंने मेरे प्रति जो भावना व्यक्त की, उसने मुझे निहाल तो किया ही, भावी जीवन में और भी दृढ़ता-पूर्वक चलने को उत्प्रेरित किया।

समारोह के बाद में मेरे अनेक मित्रों के मुंह से मैंने सुना कि राजधानी में आएदिन समारोह होते रहते हैं, लेकिन इतना हार्दिकतापूर्ण समारोह उन्होंने पहले कम ही देखा था ।

उस ग्रन्थ का मूल्य आज कई गुना अधिक हो गया है, कारण कि उसमें जिनकी हस्त-लिपि सुरक्षित है, उनमें से अनेक महानुभाव आज हमारे बीच नहीं रहे । सिद्धयोगी बाबा मुक्तानन्द परमहंस, दादाजी (पं. बनारसीदास चतुर्वेदी), काका साहेब कालेलकर, रामभक्त कपीन्द्रजी, जैन विधा की विभूतियां पं. सुखलाल सिंघवी, डा. हीरालाल जैन, पं. बेचनदास दोषी, डा. ए. एन. उपाध्ये, पं. परमेष्ठीदास जैन, उद्योगपतियों में साहू शान्तिप्रसाद जैन, भागीरथजी कामनोडिया, मारीशस के जयनारायण राम, फीजी के पं. महाराज, शंकर प्रताप आदि-आदि का विछोह मेरे हृदय में आज भी टीस पैदा करता है ।

समारोह के चित्र और विवरण पत्रों में छपे तो मित्रों के पत्रों की बाढ़ सी आ गई । उन्होंने जहां मुझे बधाई दी, वहां शिकायत भी की । उनका कहना था कि ग्रन्थ में किसने क्या लिखा है, इसकी जानकारी उन्हें कैसे हो पावेगी । उन्होंने इच्छा प्रकट की कि ग्रन्थ छपवा देना चाहिए । कुछ मित्र तो घर पर आये । उन्होंने ग्रंथ प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग का आश्वासन दिया । पर मेरा मन और मत स्पष्ट था ।

१४ / आखिर ग्रंथ निकला

हस्तलिखित ग्रंथ के प्रकाशन की बात दब गई थी, किन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। उसे कार्यान्वित करने के लिए एक अभिनन्दन समिति का गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष बनाये गए सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, मंत्री 'चित्र-कला संगम' के सचिव वीरेन्द्र प्रभाकर। अनेक गण्यमान्य व्यक्ति उसमें सम्मिलित किये गए। आर्थिक सहयोग के लिए कुछ व्यक्तियों को लिखा गया।

यह सब इतना चुपचाप किया गया कि मुझे कानों-कान तक खबर नहीं हुई। जब कुछ धन इकट्ठा हो गया तो मुझे सूचना देते हुए कहा गया कि अब वापस जाना सम्भव नहीं है। मैंने कहा, ठीक है। आप वापस मत जाइये, लेकिन ग्रन्थ को व्यक्ति परक न बनाकर मूल्यपरक बनाइये। व्यक्ति तो आता है और चला जाता है, किन्तु मूल्य सनातन होते हैं। ग्रन्थ को मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित कीजिए। उसी सन्दर्भ में ग्रन्थ बनाइये।

संयोजकों को मेरी बात पसन्द आई। उन्होंने उसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थ (निष्काम साधक) की रूपरेखा बनाई। उसमें हस्तलिखित ग्रन्थ के उन महानुभावों की रचनाओं को लिया, जो अब संसार में नहीं रहे थे। उनके अतिरिक्त और भी बहुत-से व्यक्तियों को लिखा गया। मेरा जन्म ब्रज भूमि में हुआ था। अतः एक विभाग ब्रज के साहित्य, कला, संस्कृति आदि पर रक्खा गया। मेरा जन्म जैन परिवार में

हुआ है, इसलिए एक विभाग जैन धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, साहित्य पर रक्खा गया। एक-एक खण्ड भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर और एक खण्ड हिन्दी साहित्य की प्रमुख विधाओं पर रक्खा गया।

इस प्रकार ग्रन्थ को जितना व्यापक बनाया जा सकता था, बनाया गया। लगभग १५० चित्र दिये गए। ग्रन्थ के मुख्य सम्पादक हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखक और पत्रकार श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी थे।

उसका प्रकाशन अभिनन्दन समारोह समिति के द्वारा किया गया।

ग्रन्थ का लोकार्पण सप्रू हाऊस नई दिल्ली में २३-४-१९८५ को लोक सभा के अध्यक्ष डा. बलराम जाखड़ ने किया। समारोह की अध्यक्षता श्री गंगाशरण सिंह ने की। बड़े उल्लास के साथ समारोह पूर्ण हुआ। उसमें राजधानी के प्रायः सभी प्रमुख लेखक, राजनेता और समाज-सेवी उपस्थित थे।

तत्पश्चात ग्रन्थ की एक-एक प्रति समारोहपूर्वक राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री को अर्पित की गई। सभी ने ग्रन्थ को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और अपने हस्ताक्षर युक्त एक-एक प्रति हमें भेंट की।

कहना न होगा कि ग्रन्थ की सभी क्षेत्रों में प्रशंसा हुई। सामग्री के साथ-साथ उसकी साज-सज्जा अत्यन्त सुरुचिपूर्ण थी।

ग्रन्थ से जहां मुझे हर्ष हुआ, वहां एक बात से मुझे अपार कष्ट हुआ। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में दादाजी (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी) ने बीसियों पत्र लिखे। निरन्तर नये-नये उपयोगी सुझाव देते रहे। उनके अनेक यज्ञों में उनकी यत्किंचित सेवा

सहोदर

बांए से : स्व० हजारीलाल जैन, यशपाल जैन, कुशलपाल जैन, वीरेन्द्र प्रभाकर और राजेन्द्रपाल जैन.
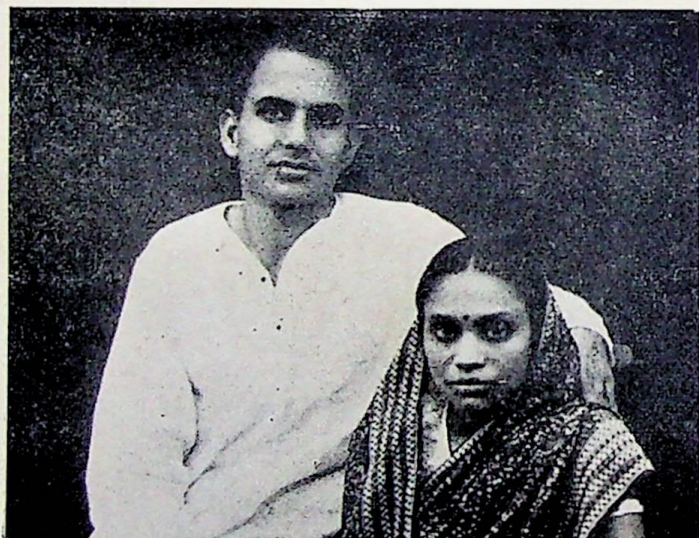
विवाह के तत्काल बाद

पत्नी श्रीमती आदर्शकुमारी के साथ.
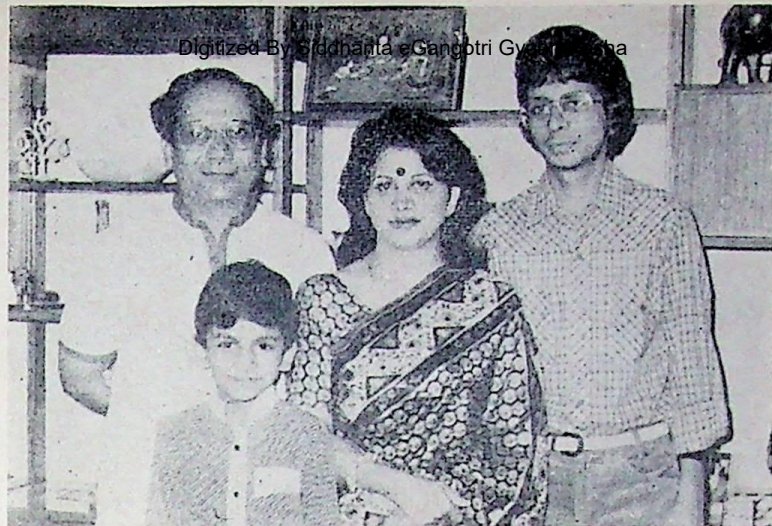
पुत्री सौ० अन्नदा का परिवार

अगली पंक्ति में : बांए से, दौहित्र पल्लव, अन्नदा पाटनी.
पीछे, जामाता कमल कुमार पाटनी और दौहित्र पराग पाटनी.
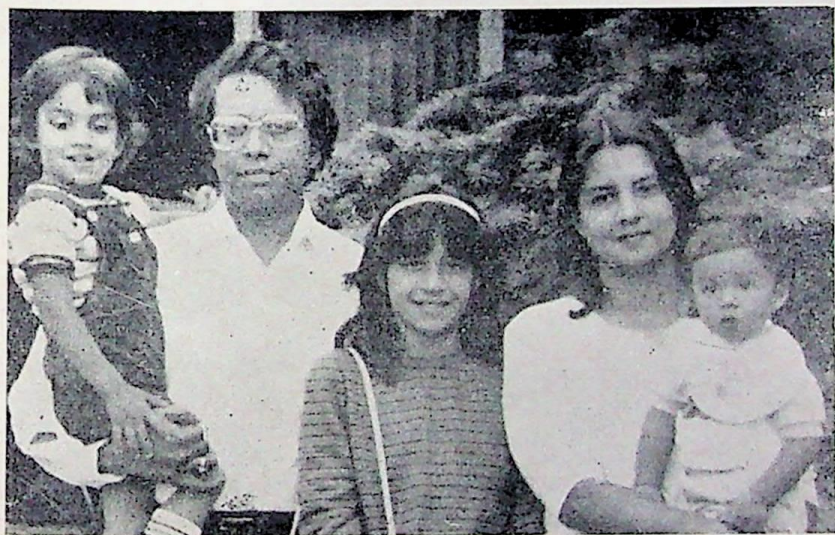
पुत्र सुधीर कुमार का परिवार

दांए से : पौत्र विवेक, सुधीर कुमार, पौत्री मोनिका जयश्री जैन, पुत्रवधू डा० मीरा जैन और पौत्र विनीत.
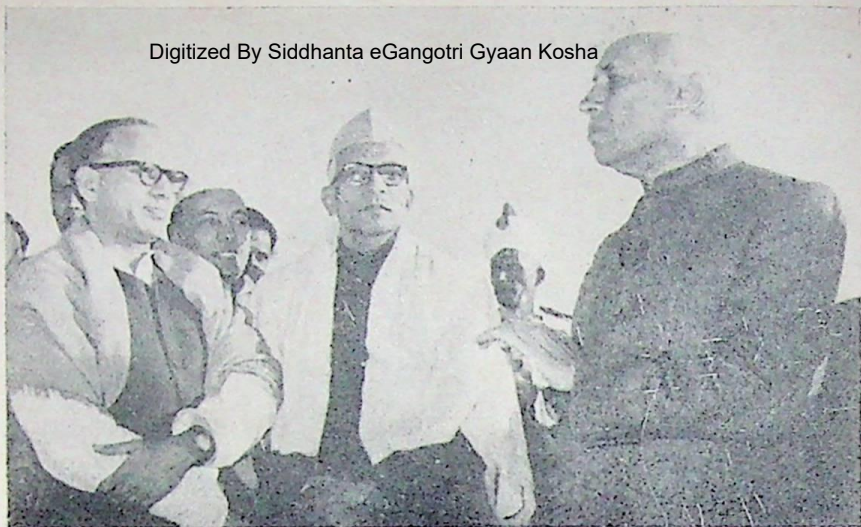
पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ
विचार-विमर्श करते हुए.
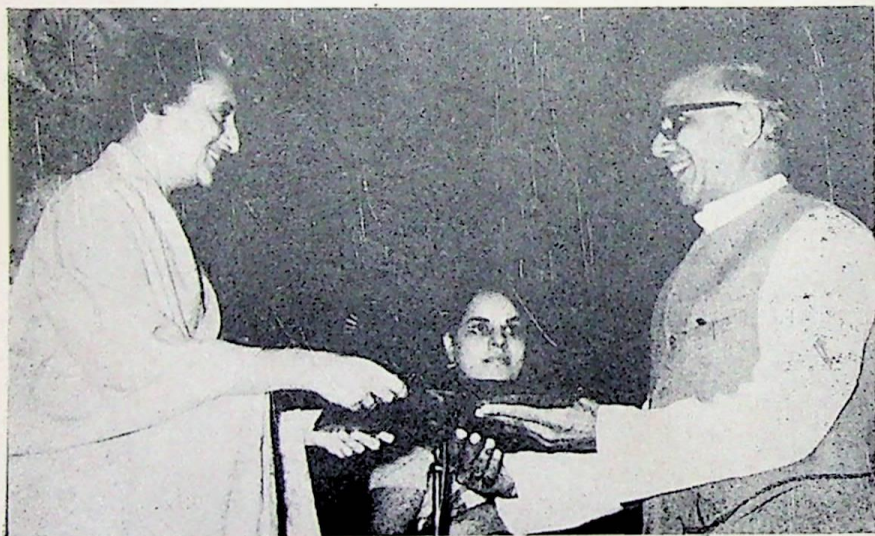
'सोवियत लैण्ड नेहरू' पुरस्कार
प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा पुरस्कार प्राप्त करते हुए.
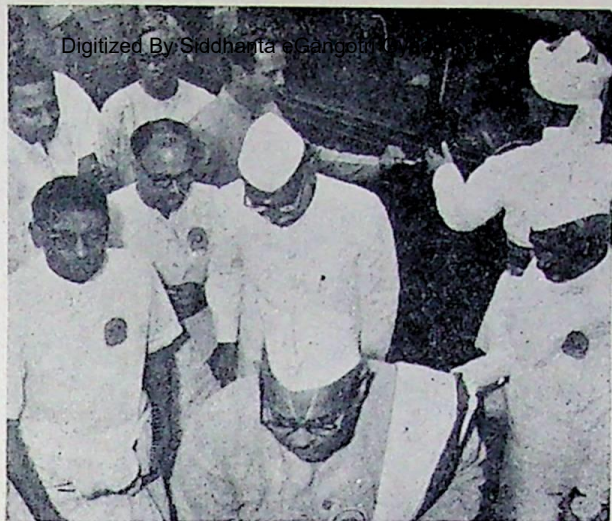
एक चिर-स्मरणीय समारोह में
डा० रघुवीर, डा० राजेन्द्र प्रसाद,
श्री अनंतशयनम आयंगर और पं० कपीन्द्रजी के साथ.
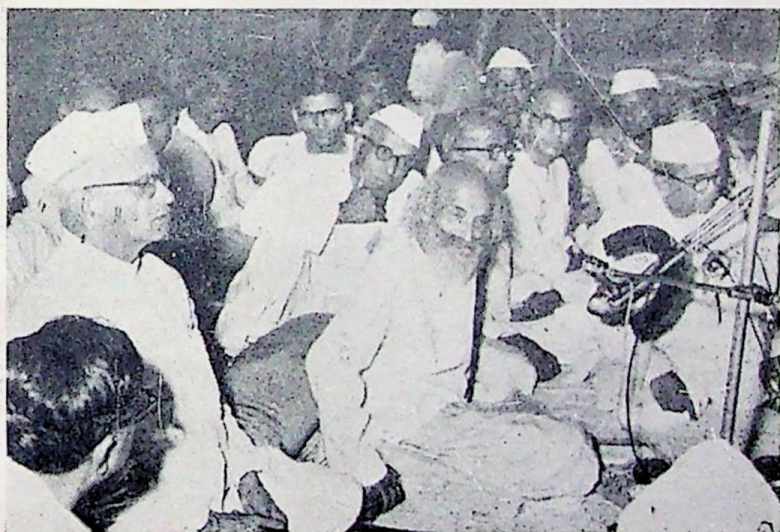
एक साहित्यिक समारोह में
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, एन० वी० गाडगिल, सेठ गोविदन्दास
और मौलिचंद्र शर्मा आदि के बीच.
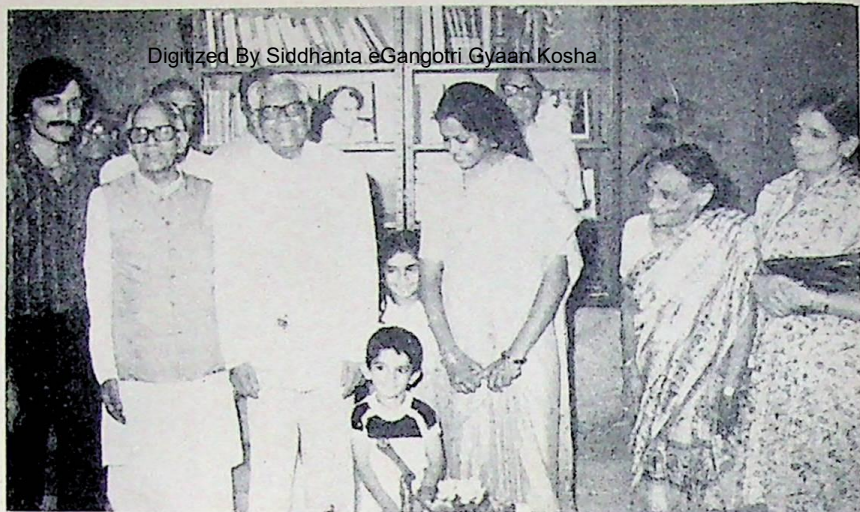
श्री आर० वैंकटरामन द्वारा अभिनन्दन

उपराष्ट्रपति (सम्प्रति राष्ट्रपति) श्री आर० वैंकटरामन और
श्री यशपाल जैन आदि, 'निष्काम साधक' ग्रंथ-समर्पण समारोह में.

प्रधान मंत्री द्वारा ग्रंथ-समर्पण

श्री राजीव गांधी यशपाल जैन को 'निष्काम साधक' ग्रंथ समर्पित करते हुए.
प्रधान मंत्री के बांए, अभिनंदन समिति के अध्यक्ष डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
और विख्यात समाज-सेविका विद्याबेन शाह.
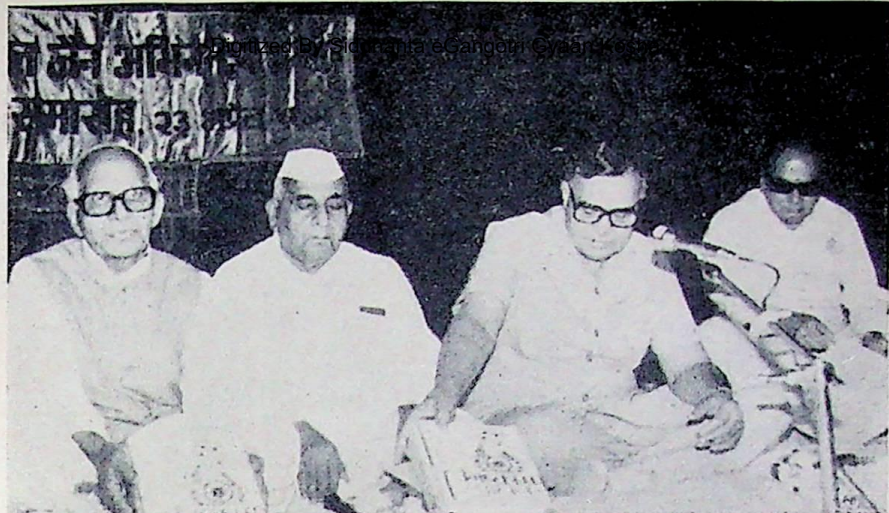
श्री यशपाल जैन अभिनंदन ग्रंथ 'निष्काम साधक' का लोकार्पण
बांए से : सर्वश्री यशपाल जैन, गंगाशरण सिंह (सभाध्यक्ष)
डा० बलराम जाखड़ (लोकार्पणकर्त्ता) और श्री एच० के० एल० भगत.
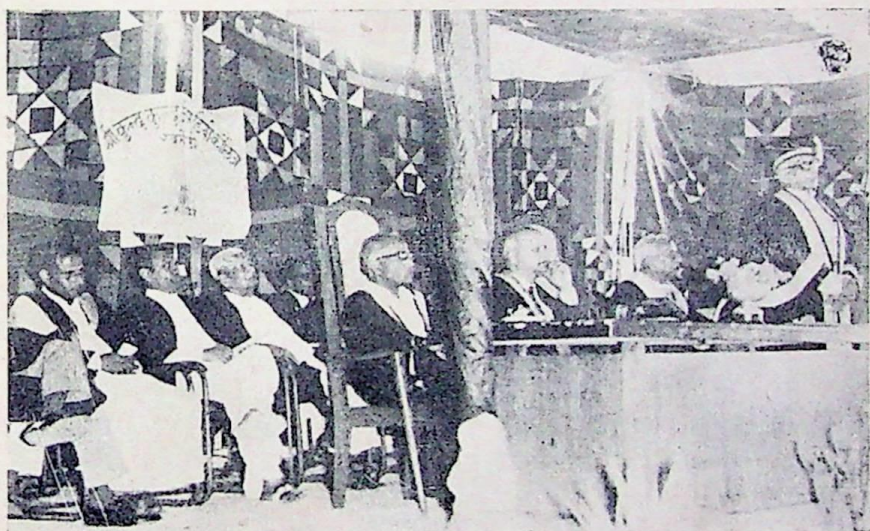
दीक्षान्त-भाषण देते हुए
खतौली (उत्तर प्रदेश) के स्नातकोत्तर के. के. जैन महाविद्यालय में.

पास में, मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा महाविद्यालय के प्राचार्य आदि.
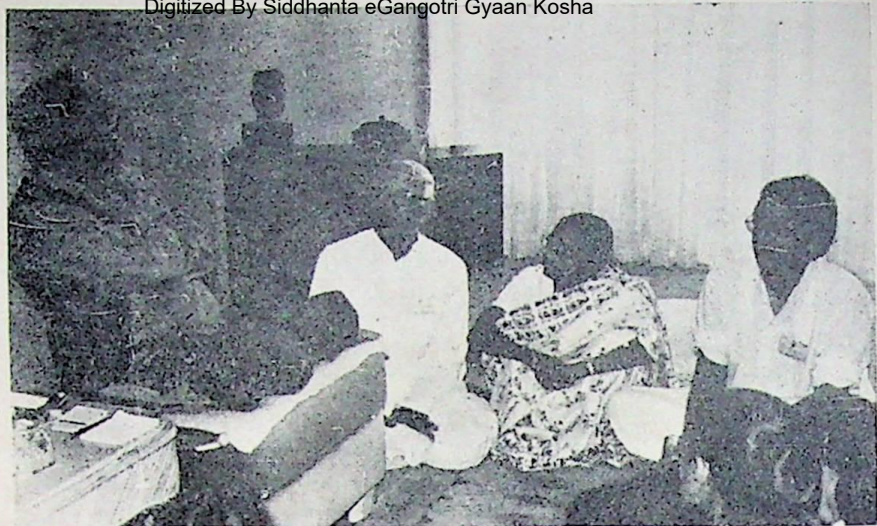
बाबा मुक्तानंद परमहंस का सान्निध्य
साउथ फॉलसबर्ग (अमरीका) आश्रम में
बांए, पत्नी आदर्शकुमारी और पुत्र सुधीर कुमार.
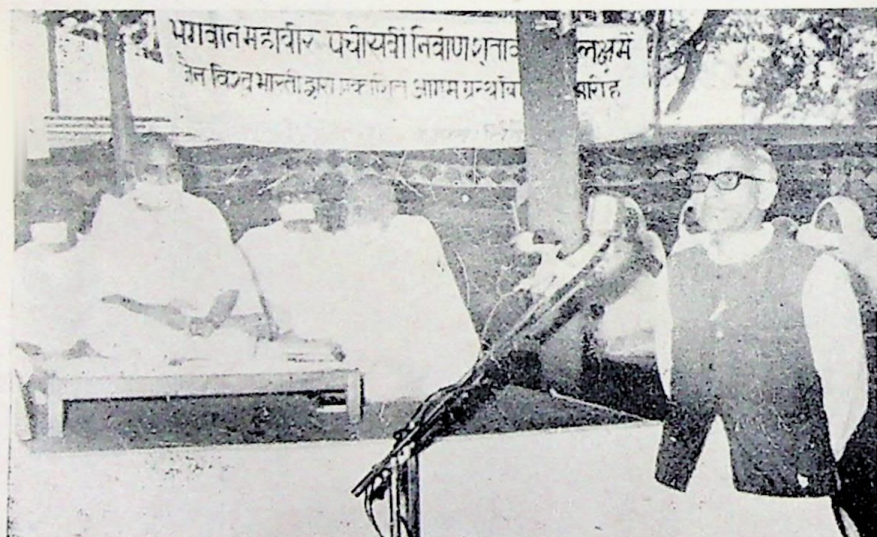
भगवान महावीर का पच्चीससौवां निर्वाण-महोत्सव

आचार्य तुलसी के सान्निध्य में आयोजित एक सभा को संबोधित करते हुए.
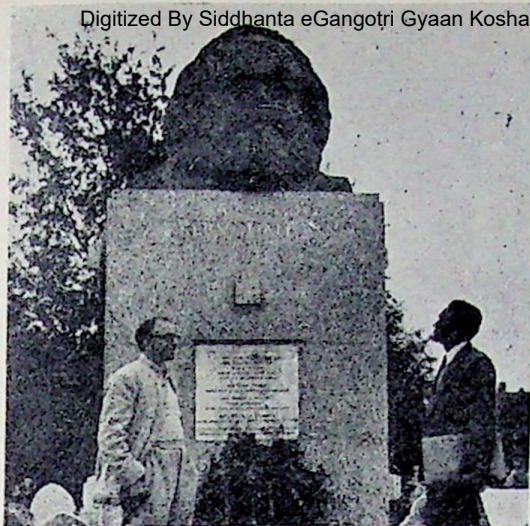
कार्ल मार्क्स की समाधि पर

लंदन में.

इलिया एहरनबुर्ग के साथ

रूस के विख्यात लेखक के ग्राम-निवास, इस्त्रा (रूस) में.

कैनेडा में हाथ-करघा

कैनेडावासी बहनें ऑटोवा के एक विख्यात कृषि-फार्म में करघे पर ऊन कातती हुइं.

अमरनाथ की स्मरणीय यात्रा

गुफा के निकट हिम-नद को पार करते हुए.

गुरुजी निचिदात्सु फूजीई के साथ
टोकियो (जापान) में आयोजित विश्वशान्ति सम्मेलन के अवसर पर.

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के निकट

चतुर्वेदीजी के बांए श्री विष्णु प्रभाकर.
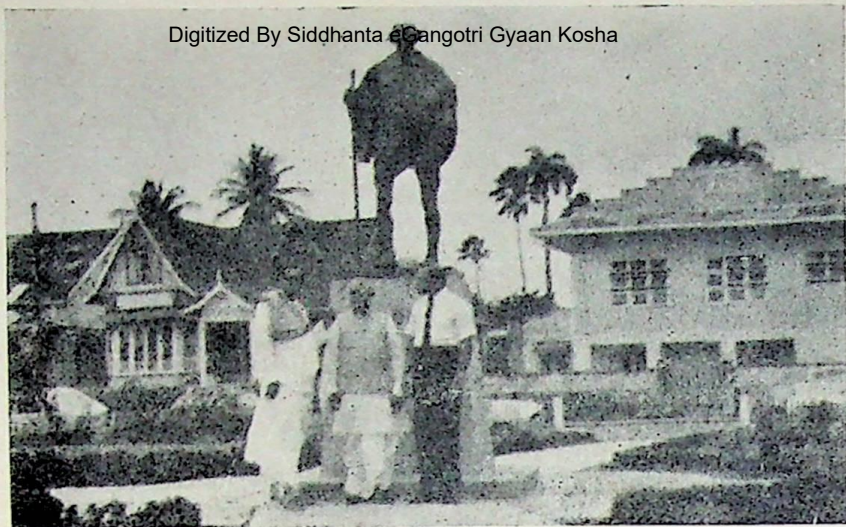
गांधीजी की प्रतिमा के सामने

ट्रिनीडाड (दक्षिण अमरीका) के एक उद्यान में.
दांए, प्रो० हरिशंकर आदेश, बांए वहां के उपमहापौर.
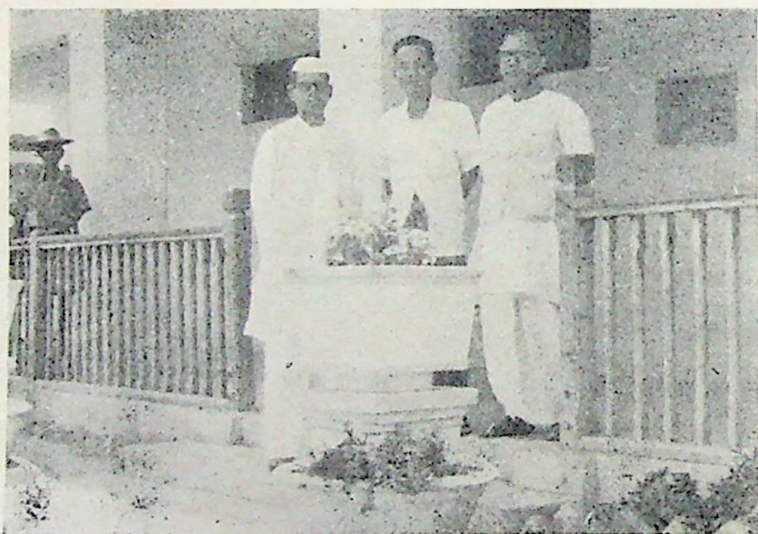
लोकमान्य तिलक के स्मारक पर

मांडले (बर्मा) के इस बंदीगृह में तिलक महाराज ने 'गीता रहस्य' की रचना की थी. बांए से विष्णु प्रभाकर, बंदीगृह के अधिकारी और यशपाल जैन.

करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। दादाजी की आंतरिक अभिलाषा थी कि वह मेरे इस ग्रन्थ को जितना स्थायी महत्व का और सुपाठ्य बना सकें, बनावें।

लेकिन जिस समय ग्रन्थ का लोकार्पण हो रहा था, वह मृत्यु-शैय्या पर पड़े थे। जब उन्हें ग्रन्थ की प्रति दिखाई गई तो अर्द्ध चेतना अवस्था में भी उनके चेहरे पर हल्की मुस्कराहट आ गई। जाते-जाते उन्हें सन्तोष हुआ कि जिस यज्ञ के वह होता थे, वह निर्विघ्न पूरा हो गया। यदि वह जीवित रहे होते तो उन्हें सबसे अधिक हर्ष हुआ होता।

१५ / वह पुण्यात्मा

संसार का शाश्वत नियम है कि जो व्यक्ति इस धरा पर जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन मृत्यु की गोद में जाना ही होता है, लेकिन यह भी उतना ही सनातन सत्य है कि जो जीवन के मर्म को और धर्म को जानता है और तदनुकूल जीता है, उसकी भौतिक काया भले ही नष्ट हो जाय, उसका यशः-शरीर कभी काल से पराभूत नहीं होता।

जिन्होंने मुझे जन्म ही नहीं दिया, मेरे जीवन का निर्माण भी किया, वह हमारी पूजनीया माता लक्ष्मी देवी ऐसी ही पुण्यात्मा थीं। उन्होंने कोई अस्सी वर्ष की आयु पाई, लेकिन इस दीर्घ अवधि में धर्म या नीति के प्रति उनकी आस्था कभी विचलित नहीं हुई। इतना ही नहीं, अपनी जीवन-यात्रा में ज्यों-ज्यों वह अग्रसर होती गईं, उनकी धर्म-निष्ठा, प्रेम और परोपकारिता का दायरा और भी बढ़ता गया। वह जैन कुल

में उत्पन्न हुई थीं और जैन धर्म को बड़ी श्रद्धालु दृष्टि से देखती थीं, भारत के प्रायः सभी प्रमुख जैन तीर्थों के उन्होंने दर्शन किये थे, व्रत और त्यौहारों को बहुत ही भावना से मनाती थीं, लेकिन धर्म को उन्होंने कभी संकीर्ण परिधि में नहीं बंधने दिया। उन्होंने धर्म को अपने जीवन में धारण किया। वह सदा सचाई के मार्ग पर चलीं और बिना छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, अमीर-गरीब का ध्यान किये दूसरों का हित-साधन करती रहीं।

हम भाई-बहन ही नहीं, सब उन्हें 'अम्मा' कहकर सम्बोधित करते थे। उनका जन्म सन् १८९० में बरौली नामक स्थान पर हुआ था। बरौली तत्कालीन युक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) की एक छोटी-सी रियासत थी, जहां हमारे नाना स्व. जाहरी लालजी दीवान थे। अम्मा के कोई भाई नहीं था, वे पांच बहनें थीं। अम्मा उनमें सबसे बड़ी थीं। नानी सबसे अधिक उन्हीं को प्यार करती थीं। ६ जून १९०३ को तेरह वर्ष की अवस्था में अम्मा का विवाह हुआ और चार वर्ष के बाद द्विरागमन की विधि सम्पन्न हुई। हमारी नानी अत्यन्त धार्मिक थीं और नाना बड़े ही स्वाभिमानी थे। अपने माता-पिता से अम्मा ने ये दोनों गुण भरपूर पाये। बीमारी के अन्तिम दिनों को छोड़कर वह बराबर पूजा-पाठ करती रहीं और अपने स्वाभिमान को उन्होंने कभी आंच नहीं आने दी।

हमलोगों के बाबा अलीगढ़ जिले में विजयगढ़ नामक कस्बे में पटवारी थे। कुछ जमींदारी भी थी। बड़ा सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित घराना था। हमें आज भी याद है कि हमारे यहां कोठारों तथा खत्तियों में मनों अनाज भरा रहता था। दूध के लिए भैंसें थीं और सवारी के लिए घोड़े। बाबा की चारों ओर बड़ी प्रतिष्ठा थी। वह फारसी और अरबी के ज्ञाता थे।

उनकी कविताएं हमारे पिताजी सुनाया करते थे। सन् १६१० में बाबा की मृत्यु हो गई और उसके कुछ दिन बाद ही पिताजी पूज्य श्यामलालजी पटवारी हो गये। घर के ठाट-बाट में कोई कमी नहीं आई। पर उस वैभव पर अम्मा ने कभी अभिमान नहीं किया। सादगी से रहीं और जरूरतमंदों की हमेशा मदद करती रहीं। जब कभी दरवाजे पर कोई भिखारी आवाज लगाता था, अम्मा घर के सब काम छोड़कर उसे आटा देने जाती थीं। जाने कितनों को जरूरत के समय पैसा दिया, पर उसमें से आधा-चौथाई भी वसूल न हुआ तो इससे वह हैरान या परेशान न हुईं। कुछ लोग तो उनकी गिन्नियां तक दबा बैठे। हमारे घर में बड़े जोर को चोरी हुई, जेवर, रुपये, कपड़े, बर्तन आदि सब चले गये, लेकिन अम्मा ने मुंह से उफ तक न की। वह कहा करती थीं—"पैसा तो हाथ का मैल है। आदमी का ईमान सच्चा होना चाहिए।"

अम्मा ने कभी अपने-पराये का भेद नहीं किया। हम आठ भाई-बहन थे, जिनमें से एक भाई और एक बहन अल्पायु में ही चले गये। पांच भाइयों और एक बहन के अतिरिक्त घर में काम करने वाले दो-चार आदमी बराबर बने रहते थे। हमारे एक फूफा बेकारी के दिनों में बरसों सपरिवार हमारे घर रहे, पर अम्मा ने कभी उन लोगों को यह अनुभव नहीं होने दिया कि वे अपने घर में नहीं हैं। कोई चीज कम होती थी तो उन लोगों को दे देती थीं और अपने बच्चों को आंख के इशारे से समझा देती थीं। इस प्रकार सालों तक उन्होंने विशाल परिवार की जिम्मेदारी ऐसे निभाई कि देखने वाले भी दंग रह गये।

अम्मा का हृदय बहुत ही सरल और निश्चल था, व्यवहार

बहुत ही मधुर था। हमें उनसे कभी डर नहीं लगा। भली-बुरी जो भी बात होती थी, निस्संकोच उनसे कह देते थे। पिताजी आरम्भ से ही तेज स्वभाव के थे। वह जब हमलोगों पर नाराज होते थे, या हमारी ठुकाई पर आमादा हो जाते थे तो अम्मा हमेशा हमारी मदद को आ जाती थीं। मुझे याद नहीं कि अम्मा ने कभी हम पर हाथ उठाया हो। हमसे कभी कोई भूल हो जाती थी तो शांत भाव से समझा देती थीं।

उन दिनों छुआछूत का बोलबाला था। हमारे घर के नीचे के आंगन के एक खास हिस्से तक ही जमादार आ-जा सकता था। वहीं कूड़ा डाल दिया जाता था और वहीं उसे रोटी-दाल आदि दे दी जाती थी। पानी पीने के घड़ों को कहार भरते थे, पर नाई उन घड़ों में हाथ नहीं लगा सकते थे। यद्यपि घर में दो-तीन मुसलमान नौकर थे, तथापि वे भी एक हद तक ही हम लोगों से हिलमिल पाते थे। एक बार घर में एक बूढ़ा मुसलमान आ गया। उसके कुनबे में कोई नहीं था। वह बड़ी मुसीबत का मारा था। पिताजी ने अम्मा से बात की कि वह हमारे घर में रहना चाहता है। अम्मा ने एक क्षण के लिए भी नहीं सोचा और कहा कि उसे बाहर के कमरे में रहने की जगह दे दो। उन्होंने उसका सारा प्रबन्ध कर दिया। अम्मा स्वयं अपने हाथ से रोटी पकाती थीं और करीम जबतक जिया, अम्मा के हाथ की गरम और मुलायम रोटियां खाता रहा। एक दिन अचानक उसके प्राण निकल गये तो पिताजी से कहकर अम्मा ने उसके किसी दूर के रिश्तेदार को खबर कराई और उसे दफन कराने में जो खर्च आया, स्वयं वहन किया। इतना ही नहीं, हिन्दुओं की तरह उसकी तेरहवीं भी की।

अम्मा का प्रेम और उनकी करुणा मनुष्यों तक ही सीमित

नहीं थी, पशु-पक्षियों तक भी व्याप्त थी। एक बार हमारे कमरे में एक सफेद कबूतर आ गया। उसे पकड़ने के लिए हमने कमरे की सारी किवाड़ें बन्द कर दीं और लगे कपड़े से उसे उड़ाने। कबूतर ने कमरे में इधर-से-उधर चक्कर लगाये, बाहर निकलने की कोशिश की, अन्त में हैरान होकर वह धरती पर आ गिरा। हम उसे पकड़ने को झपटे तो देखा, वह जोर-जोर से सांस ले रहा है। दौड़कर पानी लाये, उसकी चोंच में पानी डाला, लेकिन उसने आखिरी सांस ले ली। अम्मा को मालूम हुआ तो उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुई और उन्होंने उस कबूतर का ठीक उसी तरह क्रिया-कर्म कराया, जिस तरह आदमी का होता है।

अम्मा की परिश्रमशीलता के तो कहने ही क्या थे। गांव में घर पर सदा नौकर-चाकर रहते थे, पर भैंसों का दूध वह स्वयं निकालती थीं। नौकर पशुओं की टहल में किसी प्रकार की असावधानी न करें, इसकी पूरी चौकसी रखती थीं। शरीर उनका दुबला-पतला था, लेकिन बना जैसे वह फौलाद का था। थकना तो वह जानती ही नहीं थीं। साठ पार कर जाने पर भी उन्होंने आलस्य को कभी प्रश्रय नहीं दिया और आखिरी बार बीमार पड़ने से एक दिन पहले तक घर का सारा काम स्वयं करती रहीं। लगभग पच्चीस वर्ष पहले पिताजी ने पटवारीगिरी छोड़ दी थी और तब से वे कभी किसी भाई के पास रहीं तो कभी किसी भाई के पास। संयोग से हम सब भाई दिल्ली में आ बसे, पर स्थानाभाव के कारण दो-तीन अलग-अलग घरों की व्यवस्था करनी पड़ी।

अम्मा मुख्यतः बड़े भाई के साथ रहीं। हमारी भाभी एक डेढ़ साल का लड़का छोड़कर चल बसी थीं। अम्मा ने उस लड़के

को अपने बेटे की तरह पाला। कहा करती थीं, मेरे छः नहीं, सात बच्चे हैं, उन्होंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की, सदा दूसरों की सेवा करती रहीं।

अम्मा की स्कूली पढ़ाई एक-दो दर्जे तक हुई थी। उन दिनों लड़कियों के पढ़ाने का चलन था भी नहीं। लेकिन अम्मा ने हिन्दी के लिखने-पढ़ने का इतना अभ्यास कर लिया था कि वह धार्मिक पुस्तकें ही नहीं, अन्य पुस्तकें भी मजे में पढ़ लेती थीं। मेरी सारी पुस्तकें और लेख अम्मा ने आद्योपांत पढ़े थे। जब उनकी आंखें कमजोर हो गई थीं तो वह घर के किसी बच्चे से पढ़वाकर सुनती थीं। रेडियो पर मेरी कोई वार्ता प्रसारित होती थी तो उसे अवश्य सुनती थीं और कभी-कभी मैं उन्हें सूचना देना भूल जाता था तो उलाहना देती थीं। दिन में समय निकालकर अखबार अवश्य पढ़ती थीं।

उनमें सहज बुद्धि इतनीं विकसित थी कि जटिल-से-जटिल बात को भी सहज ही समझ लेती थीं। जब मोरारजी भाई ने स्वर्ण नियंत्रण किया तो वह बहुत खुश थीं, कहती थीं— "भैया, सोने को लादने से क्या फायदा! मुरारजी ने यह काम बड़ा अच्छा किया है।" सच बात यह है कि उनमें धन संग्रह को वृत्ति थीं ही नहीं। उन्होंने कभी अपने पास कुछ नहीं रक्खा। उनके जाने के बाद जब उनका बक्स खोला, तो उसमें एक नई और दो पुरानी धोतियां, एक शॉल और पैंतीस रुपये निकले। छियासठ वर्ष की यही उनकी कुल जमा पूंजी थी। उनके हाथों में हजारों रुपये आये होंगे, घर में खूब समृद्धि थी, पर अम्मा में धन-सम्पत्ति के प्रति आसक्ति हुई ही नहीं।

अम्मा बहुत ही प्रज्ञावान थीं। उन्हें मैंने कभी व्यग्र नहीं देखा, न उतावली में पाया, न अधीर होते देखा। जब कभी कोई

कठिनाई आती तो वह बड़े ही सहज और शांत-भाव से उसका सामना करतीं।

उन्होंने सारे घर को एक सूत्र में बांध रक्खा था। त्यौहार के दिन वह सारे परिवार को इकट्ठा कर लेतीं और सबको बड़ी ममता से खाना खिलातीं। जिस तरह माली को अपनी फुलवाड़ी को फलते-फूलते देखकर आंतरिक सुख मिलता है, वही भाव अम्मा को अपने बच्चों को देखकर होता था।

अपने लड़कों की जब किसी से प्रशंसा सुनती थीं तो उन्हें बड़ा सन्तोष होता था। एक बार किसी ने बिना यह जाने कि वह मेरी मां हैं, उनके सामने मेरी बड़ाई की। अम्मा थोड़ी देर चुप रहीं, फिर बोलीं, "अरे, बुतो मेरौई बेटा है।" अपने लड़कों को लेकर उनमें अहंकार नहीं था। उनकी एकमात्र अभिलाषा यही थी कि उनके बच्चे गलत रास्ते पर न जायें और दूसरों की जितनी भलाई कर सकें, करें।

अम्मा की ममता का पार न था। रविवार को उनके पास जाने का मेरा नियम था। कभी व्यस्तता के कारण न जा पाता तो अम्मा फोन करतीं, "चौं भैया, तेरी तबीयत तो ठीक है न !" हमलोग आपस में ब्रज भाषा में बात किया करते थे। मैं कह देता, "अम्मा, तबियत तो ठीक है, काम के मारे नाइ आइ पायौ।" वह कहतीं, "कोई बात नायें।" कभी-कभी इस चीज को लेकर थोड़ा विनोद भी हो जाता। अम्मा कहतीं, "भैया, यां है जाओ करौ, नई तो मेरे पिरान तुममें ई अटके रहिंगे।" मैं हंसकर कहता, "तो अम्मा, मैं नई आओ करुंगो। जा मारें तुम्हारे प्राण तो अटके रहिंगे।" अम्मा भी हंस पड़तीं। मैं पेट का वर्षों से रोगी हूं। कभी पेट में हवा वहुत बनती और हैरानी होती तो अम्मा से कह देता। वह कहतीं, "भैया,

तुमने परहेज करि-करि कै अपनी पेट बिगाड़ लयो ए।" फिर तो रोज फोन करतीं और जबतक तबियत ठीक न हो जाती, उन्हें चैन न पड़ता। मेरे लिए ग्वारपाठा, अजवाइन तथा और न जाने क्या-क्या चीज डालकर चूर्ण बनाकर भेज देतीं। आज तबियत खराब होती है तो लगता है, अब फोन की घंटी बजेगी और अम्मा की आवाज सुनाई देगी।

जाने कैसे, मैं यह मानता रहा कि अम्मा सौ बरस जरूर पूरे करेंगी। इसीलिए कभी यह सोचा ही नहीं कि अम्मा की भौतिक सुविधा का जितना ध्यान रखना चाहिए, उतना रक्खें। आज इसी बात को याद करके दिल में हूक-सी उठती है। आखिर उनकी आवश्यकताएं थी ही कितनी। पर हमलोग उनके लिए उतनी भी सुविधाएं नहीं जुटा पाये! इस बात का मुझे हमेशा दुख रहेगा।

इतने बड़े हो जाने पर भी हम अक्सर अम्मा के सामने बच्चे बन जाते थे। अम्मा ब्रजभाषा के कुछ ठेठ शब्द बोलती थीं। मैं कभी-कभी विनोद में यों ही कुछ कह देता। अम्मा कहतीं, "तु तो बड़ी अनकटोंटी (१) बात कत्तु ए।" इस प्रकार जब मैं कम खाता तो वह कहतीं, "तू तो बड़ी निजैमां (२) है गयौ ए।" हममें से कोई अच्छी चीज होते हुए भी खाने से इन्कार करता तो अम्मा झट कह देतीं, "छोरा तू तो बड़ौ पुंद-कावतु (३) है।" अम्मा के इन और ऐसे ही शब्दों को लेकर जब हम हंस-हंसकर बात करते तो वह जरा भी बुरा न मानतीं।

२६ अक्तूबर १९६९ को वह अचानक बीमार पड़ीं और १८ नवम्बर १९६९ को मंगलवार के दिन उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

(१) अजीब। (२) अनखाता। (३) ऊंचा दिमाग रखना।

वैसे तो उनका प्रेम हम सब भाइयों और बहन पर समान था, किन्तु उनका झुकाव मेरी ओर कुछ अधिक था। अम्मा के जाने से मुझे बड़ी रिक्तता अनुभव हुई। लगा, मानो मेरे जीवन की एक अत्यन्त मूल्यवान निधि खो गई। जो डोर हमारे सारे परिवार को बांधे हुए थी, वह सहसा टूट गई थी।

जिस समय मेरे हृदय में भारी उथल-पुथल हो रही थी, अम्मा ने ही मेरी सहायता की। मुझे याद आया, वह कहा करतीं थीं कि आदमी की जिन्दगी में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं। धीरज से काम लेना चाहिए और घबराना नहीं चाहिए।

अम्मा के इस कथन का चिन्तन करते हुए मुझे सूझा कि कोई ऐसा काम हाथ में लेना चाहिए, जिसमें मेरे साथ मेरा यह दुःख भी डूब सके। सोचते-सोचते मैंने दादाजी (बनारसी-दास चतुर्वेदी) के अभिनन्दन-ग्रन्थ का काम हाथ में ले लिया और तीन महीने तक उसी काम में खोया रहा। 'प्रेरक साधक' ग्रन्थ उन्हीं दिनों की कृति है।

समय ने दुःख पर पर्दा डाल दिया, पर अम्मा की याद बराबर बनी रही। उनकी प्रथम पुण्य तिथि पर हमलोगों ने तीन काम किये। मेरे छोटे भाई कुशलपाल ने भगवान महावीर का विशाल रंगीन चित्र तैयार किया था। उसे देखकर अम्मा ने कहा था, "भैया, यह तो घर में नहीं, मन्दिर में लगना चाहिए।" अम्मा की इस आकांक्षा को ध्यान में रखकर उसे उनकी पहली पुण्यतिथि पर लाल किले के सामने लाल मन्दिर में लगवा दिया।

दूसरा काम यह किया कि परिवार के बड़े-छोटे सभी सदस्यों से और अम्मा के सम्पर्क में आने वाले कुछ महानुभावों से,

उनके संस्मरण लिखवाये और उनका एक संग्रह 'दिव्य ज्योति' के नाम से उनकी पहली पुण्य तिथि पर निकाला। उसके एक खण्ड में वे प्रार्थनाएं और भजन भी दिए, जो अम्मा को बहुत प्रिय थे। और उन्हें कण्ठस्थ थे। इनकी भूमिका दादाजी ने लिखी और लोकार्पण तत्कालीन केन्द्रीय मन्त्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने किया।

तीसरा काम था दरियागंज (नई दिल्ली) के जैन उच्चतम माध्यमिक विद्यालय में किसी नैतिक या धार्मिक विषय पर छात्रों की वाक् प्रतियोगिता, जो अब भी प्रति वर्ष १८ नवम्बर को बराबर होती आ रही है।

अम्मा के ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। उनके चरणों में श्रद्धांजलि !

१६ / पिताजी की स्मृति में

मेरे पूज्य पिताजी (श्री श्यामलाल जैन) का जन्म सन् १८९० में अलीगढ़ जिले के विजयगढ़ नामक कस्बे में हुआ था, जो किसी जमाने में ऐतिहासिक नगर था। राजपूतों का वहां विशाल गढ़ था। उसके अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं। 'बाबरनामा' में उस नगरी का उल्लेख आता है। हमारे बाबा लाला भूपाल सहाय तीन भाई थे। बहुत बड़ा परिवार था। धन-धान्य से भरा था। चारों ओर प्रतिष्ठा थी। बाबा पटवारी थे। उन दिनों पटवारी को 'गांव का खुदा' कहा जाता था। दूर-पास जमींदारी थी। उन दिनों जमींदारी प्रतिष्ठा और शक्ति दोनों का केन्द्र थी। मुझे याद है कि हमारे यहां खत्तियों में अनाज भरा रहता था। घर में गायें-भैंसे थीं, घोड़े-घोड़ी थे। नौकर-चाकर काम करते थे। किसी चीज की कमी नहीं

थी। चारों ओर प्रभाव था।

पिताजी के दो भाई और चार बहनें थीं। हमारी चारों बूआ अच्छे घरों में ब्याही थीं। एक बूआ का विवाह पड़ोस में ही लाला इन्द्र प्रसादजी के सम्पन्न तथा सम्भ्रान्त घर में उनके पुत्र दीवान रूप किशोर के साथ हुआ, जिनकी सन्तान अक्षय कुमार जैन हैं। पिताजी का विवाह उत्तर प्रदेश की रियासत बरौली के दीवान लाला जाहरीलाल की पुत्री लक्ष्मीदेवीजी के साथ हुआ। हम आठ भाई-बहन थे, जिनमें छह जीवित रहे।

उन दिनों उर्दू और फारसी का बोलबाला था। बाबा इन दोनों भाषाओं के जानकार थे। पिताजी सुनाया करते थे कि बाबा को फारसी की बहुत-सी कविताएं याद थीं। कुछ कविताएं उन्होंने स्वयं भी लिखी थीं। उनकी परम्परा को पिताजी ने आगे बढ़ाया। उन्हें पढ़ने का बचपन से ही शौक रहा, जो अन्त तक चला। उन्होंने उर्दू और फारसी में कुछ कविताएं लिखीं। इन कविताओं को वह अक्सर गाकर सुनाया करते थे।

हमारी दादी का छोटी उम्र में ही स्वर्गवास हो गया था। फिर भी वह बड़ा घर बिखरा नहीं। हमारी ताई और माताजी ने उसे एकसूत्र में बांधे रखा। ताई के जाने के बाद हमारी मां ने उस जिम्मेदारी को खुले दिल से निभाया और अपने स्वर्गवास के समय तक पुराने सम्बन्धों को बनाए रखा।

पिताजी बड़े तेज स्वभाव के थे। यह तेजी उन्हें बाबा से विरासत में मिली थी। हम घर के आदमी ही नहीं, बाहर के लोग तक उनसे डरते थे। जब हमलोग विजयगढ़ के निकट बीझलपुर ग्राम में चले गए, तो वहां भी उनका रौब-दाब उसी तरह बना रहा। शाम को गांव के मुखिया और दूसरे बड़े-बड़े लोग हमारे यहां इकटठे हो जाते थे और पिताजी घंटों उनसे

बातें करते रहते थे।

पिताजी हुक्का पिया करते थे। नौकर उनकी फरसी तैयार करके उनके सामने रख देता था और वे हत्थेदार मूढ़े पर बैठकर बहुत रात गये तक आराम से बातें करते रहते थे।

हम बच्चों का बचपन बड़े अनुशासन में बीता। पढ़ाई के बारे में पिताजी बड़े सख्त थे। जब वह रात गये बाहर से उठकर अन्दर आते थे, तो बहुत बार हमें जगाकर पहाड़े या पाठ सुनाते थे। कभी-कभी हमारी ठुकाई भी हो जाती थी।

एक बार नौकर कहीं गया हुआ था। पिताजी ने मुझसे चिलम भर लाने को कहा। जहां पर वह बैठते थे, उसके और भीतर के कमरों के बीच थोड़ी जगह थी, जिसमें गाय-भैंसे बंधा करती थीं। उन दिनों स्त्रियां बाहर बहुत कम निकलती थीं। अपने भीतरी आवास में रहती थीं और पुरुष बाहरी हिस्से में। मैंने अन्दर जाकर चिलम भरी और जब लौटने लगा, तो एक खेल सूझा। बीच में एक भैंस खड़ी थी। मैं तेज आग की चिलम को भैंस के थनों तक ले गया। गर्मी से भैंस कूदने लगी। वह कूदकर जहां रुकती, वहीं मैं फिर चिलम को ले जाता। इस खेल में थोड़ी देर हो गई। पिताजी ने सोचा कि इतनी देर लगनी नहीं चाहिए थी। वह चुपचाप यह देखने के लिए कि बात क्या है, अन्दर आए। मैं तो अपने खेल में मस्त था। पिताजी मक्खियां भगाने के लिए एक चौरी रखा करते थे। बड़ी जोर से एक चौरी मेरे पीठ पर पड़ी। मैंने मुड़कर देखा। फिर तो पिताजी ने जोर से कई चौरियां मेरी पीठ पर जमा दीं। जब उनका हाथ रुका तो उन्होंने कहा, "जानवरों से हंसी-खेल करते हो, जिनके जबान नहीं हैं, उन्हें सताते हो।" उस दिन से आज तक मैंने किसी जानवर को सताया हो, मुझे

स्मरण नहीं।

उन्होंने धूम्रपान की बुरी आदत से मुझे किस प्रकार होशियारी से बचाया, इनका उल्लेख मैंने अन्यत्र किया है।

वे जितने कठोर थे, उतने ही परिवारवत्सल भी थे। हम बच्चों को बेहद प्यार करते थे। हमें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा और संगति मिले, इसका ध्यान वे सदा रखते थे। बांझलपुर छोटा-सा गांव था। वहां पढ़ाई की व्यवस्था नहीं थी। हमलोग पड़ोस के गांव में पढ़ने जाते थे। एक बार कई दिनों तक स्कूल जाने को मन नहीं किया। पट्टी-बस्ता लेकर हम कुछ बालक घर से निकलते और हरे-भरे खेतों में खेलते। फिर पट्टी पर थोड़ा-सा लिखकर शाम को घर लौट आते। दो-तीन दिन बाद स्कूल के मुंशीजी (हैडमास्टर) हमारे घर आए। मेरे स्कूल न जाने से उन्हें चिन्ता हो गई थी कि मैं कहीं बीमार तो नहीं पड़ गया। आते ही उन्होंने पिताजी से कहा, "यशपाल की तबीयत कैसी है ?" पिताजी ने विस्मय से पूछा, "क्यों, क्या बात है ?" मुंशीजी ने कहा "वह कई दिन से स्कूल नहीं जा रहा है।"

तत्काल मेरी पेशी हुई। मुंशीजी को देखते ही मेरा खून सूख गया। मुझसे कैफियत मांगी गई, तो मैंने डरते-डरते अपनी बात कह दी। उसके बाद जो ठुकाई हुई, उसकी याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पिताजी एक क्षण को भी यह गवारा नहीं कर सकते थे कि उनका बच्चा पढ़ाई से जी चुराये और झूठ बोले।

ऐसे अवसरों पर मां हमेशा बीच में आ जाती थीं, पर वह तो अन्दर थीं। इसलिए पिताजी का हाथ तबतक नहीं रुका, जबतक मैंने मुंशीजी के सामने वचन न दिया कि आइंदा कभी

ऐसा नहीं करूंगा।

पिताजी पटवारी थे। विजयगढ़ तथा बीझलपुर में कुछ जमींदारी भी थी, लेकिन पिताजी हमेशा अक्खड़ और फक्कड़ रहे। उन्होंने अपना सिर हमेशा ऊंचा रखा। कभी किसी से दबे नहीं। पैसे का लालच उन्हें कभी नहीं हुआ, जो मिला, खर्च किया। अच्छी तरह रहे, अच्छा खाया-पिया। यह चिन्ता कभी नहीं कि आगे क्या होगा। ईश्वर पर उनका विश्वास रहा हो या न रहा हो, पर इतना वे अवश्य मानते थे कि नेकी का जीवन बिताने वाला कभी घाटे में नहीं रहता।

जब उन्होंने गांव छोड़ा, तो फिर मुड़कर एक बार भी पीछे नहीं देखा। विजयगढ़ और बीझलपुर के हमारे महल जैसे घर थे। वे मिट्टी में मिल गए, जमींदारी पर दूसरों ने कब्जा कर लिया, बाग-बगीचे उजड़ गए। पिताजी चाहते, तो उन्हें बेचकर कुछ पैसा उठा सकते थे, लेकिन पैसे के लिए उनमें मोह था ही नहीं।

उनके जीवन में उतार-चढ़ाव खूब आए। एक बार बीझलपुर में बरसात के दिनों में हमलोग छप्पर के नीचे सो रहे थे। पिताजी, माताजी और हम सब भाई-बहनों की चारपाइयां बराबर-बराबर बिछी थीं। वर्षा के साथ बड़े जोर का अंधड़ आया और छप्पर एकदम नीचे आ गिरा। संयोग देखिए कि छप्पर की बल्लियां एक ओर को दीवार के सहारे टिकी रहीं। हममें से किसी के खरोंच तक नहीं आई।

एक बार बड़े जोर की चोरी हुई। सबकुछ चला गया। चोर पिताजी को मारने भी आए थे। दैवयोग से उस दिन पिताजी किसी काम से बाहर गए थे। चोर घर खाली करके चले गए, लेकिन पिताजी का कुछ नहीं बिगड़ा।

मेरे बड़े भाई का लड़का और उस समय का उनका इक-लौता पोता, जिसे सारा घर बहुत प्यार करता था, एक दिन कुएं की जगत पर खड़े होकर नीचे झांक रहा था कि उसका पैर फिसल गया और वह कुएं में गिर पड़ा। बड़ा गहरा पानी था, पर वह जीवित निकाल लिया गया। कुछ समय बाद विषम ज्वर में वह गुजर गया।

एक बार दशहरे पर पिताजी के साथ अम्मा, भाभी और बच्चे गंगा स्नान को गये। भाभी ने किनारे पर बैठी अम्मा का हाथ पकड़ कर जैसे ही जल में डूबकी लगानी चाही कि अम्मा का पैर फिसल गया। दोनों तेज धार में बह गईं। पिताजी ने यह देखा तो बिना तैरना जाने उन्हें बचाने के लिए पानी में कूद पड़े। बड़ी कठिनाई से लोगों ने उन्हें निकाला। अम्मा और भाभी तो बहकर काफी दूर निकल गई थीं, पर भगवान के अनुग्रह और हमारे सौभाग्य से तीनों बच गये।

संकट यों सभी के जीवन में आते हैं, पिताजी के जीवन में भी आए, पर ज्यादातर तूफान की तेजी से आए और उसी तेजी से उतर गए। पिताजी ने कभी हौसला नहीं छोड़ा।

स्वतन्त्रता से कुछ दिन पहले पिताजी ने सारे कामों से छुट्टी ले ली। उनके सब लड़के अपने-अपने काम पर लग गए, पर वह अधिकतर रहना बड़े भाई श्री हजारीलालजी या तीसरे भाई कुशलपाल के साथ पसंद करते थे। काम छोड़ा, तब पैसे के नाम पर उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी, पर वे कभी किसी से दबे नहीं। अपनी ही रची एक कविता की ये दो पंक्तियां वे बड़े ही मधुर स्वर में गाकर सुनाया करते थे :

मिले खुश्क रोटी जो आजाद रहकर
तो है वो कहीं हलुवा-पूड़ी से बेहतर।

इसमें उनके जीवन का सारा दृष्टिकोण समाया हुआ था। उन्हें परेशानियां हुईं, पैसे की तंगी भी रही पर उन्होंने अपने स्वाभिमान को सदा बनाये रक्खा। अच्छा खाया, अच्छा पहना, पर किसी के दबाव में नहीं आए। बच्चे घर-गिरस्ती वाले हो गये थे, लेकिन क्या मजाल कि वह कुछ कहें, तो कोई लड़का मुंह खोल दे। कभी कोई बात होती थी, तो वे कह देते थे; "मैं हरिद्वार चला जाऊंगा, पर तुम लोगों की बात नहीं सुनूंगा। तुम्हारा मंह नहीं ताकूंगा।"

मेरे बड़े भाई दिल्ली आ गए, तो पिताजी उनके पास आकर रहने लगे। उनका जीवन का उत्तरार्द्ध दिल्ली में ही बीता। एक दिन मैंने उनसे कहा, "चाचाजी, आप अपनी जीवनी लिख दें।" उन्होंने मेरी बात मान ली और लिखना शुरू कर दिया, लेकिन १५-२० पन्ने लिखे कि उनका मन उचट गया। मैं बार-बार तकाजा करता, तो कह देते, अच्छी बात है, अब फिर लिखना शुरू कर दूंगा, पर वह घड़ी आई नहीं। मैंने उनसे अनुरोध किया था कि वे अपनी कविताएं भी उसी में लिख दें। आज मुझे इस बात का दुःख है कि उनकी कविताएं उनके साथ ही चली गईं।

सन् १९५१ से उन्होंने अपनी डायरी रखी। प्रारम्भ में उन्हें उर्दू और फारसी का अभ्यास था। वे उर्दू में ही लिखा करते थे। उनकी डायरी उर्दू में ही है। जाने कितनी प्रकार की चीजें उन डायरियों में आ गई हैं, उनसे पता लगता है कि उनकी रुचि कितनी व्यापक थी। उन्होंने कभी राजनैतिक काम नहीं किया, पर डायरी के पन्ने-पर-पन्ने राजनैतिक घटनाओं से भरे पड़े हैं। एक तिथि को लिखा है—आज राष्ट्रपति का चुनाव हुआ, तीन उम्मीदवार थे। १—वी. वी. गिरि, २—संजीव रेड्डी,

३—देशमुख। तीनों को इस प्रकार वोट मिले (पूरी तालिका दी है)। वी. वी. गिरि जीत गए।

एक अन्य तिथि का उल्लेख है—आज मुजीबुर्रहमान बिना शर्त रिहा कर दिये गए।

आगे तारीख में लिखा है—वह एक विशेष हवाई जहाज में लंदन पहुंचे।

फिर आगे उल्लेख है—आज मुजीबुर्रहमान भारत आए। पालम हवाई अड्डे पर राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि ने उनका स्वागत किया। मुजीबुर्रहमान का भाषण हुआ।

एक तिथि में अंकित है—आज रात को १२ बजकर ५ मिनट के जहाज से यशपाल अमरीका गए।

फिर एक तारीख में है—आज के जहाज से वीरेन्द्र कांग्रेस के अधिवेशन में कलकत्ता गया।

अन्य घटनाओं के साथ घर के लोगों के कहीं भी आने-जाने का पूरा विवरण उनकी डायरी में है।

जब कभी कोई उल्लेख-योग्य घटना नहीं होती थी, तब वह मौसम का हाल देते थे :

आज दिन भर बादल घिरे रहे। कुछ बूंदाबांदी भी हुई।

१८ नवम्बर १९६९ को जब मेरी माताजी का देहान्त हुआ, तो उन्होंने माताजी की स्मृति में प्रकाशित 'दिव्य-ज्योति' संस्मरण में लिखा :

"६ जून १९०३ का बन्धन एक पल में टूट गया, लेकिन जो टूटा वह जिस्मानी बन्धन था, जो देर-अबेर से सबका टूटता है, पर क्या ६६ वर्ष की याद कभी भुलाई जा सकती है? उन्होंने अपना फर्ज बड़ी खूबी से अदा किया और मुझे पूरा भरोसा है कि वे जहां भी होंगी, सुखी ही होंगी, क्योंकि दुःख को उन्होंने

कभी दुःख माना ही नहीं ।"

माताजी के जाने के बाद उनके जीवन-क्रम में विशेष अन्तर नहीं आया, न उन्होंने कभी उनके विषय में चर्चा ही की, लेकिन सच बात यह थी कि उनका बहुत बड़ा सहारा छिन गया था। उनका दिल अन्दर से जैसे खाली हो गया था।

फिर भी बिछोह के तीन वर्ष उन्होंने बड़ी हिम्मत से बिताये। वे सबेरे नित्य-नियम से तीन-चार मील घूमते थे। उनका घूमना जारी रहा। वे सीताराम बाजार में हमारे बड़े भाई श्री हजारीलाल के साथ रहा करते थे। कभी-कभी घूमते हुए मेरे पास दरियागंज आ जाते और जब देखते कि मैं घूमने नहीं गया हूं, तो कहते—"यशपाल, घूमना किसी भी हालत में बन्द नहीं करना चाहिए। उसके बिना सेहत ठीक नहीं रह सकती।"

कभी-कभी मैं बताता कि पेट में दर्द है, तो वे कहते, "तुमने अपना पेट अपने आप खराब कर डाला है। हम यह नहीं खायेंगे, वह नहीं खायेंगे, यह ठीक नहीं है। सब चीज खाओ। परहेज की अति भी पेट को बिगाड़ देती है।"

फिर कहते, "तुम लोग जल्दी-जल्दी घड़ी देखकर खाते हो। यह बुरी बात है। आराम-आराम से खाओ और खाकर कम-से-कम दस-पन्द्रह मिनट बिस्तर पर लोट जरूर लगाओ।"

उनमें बहुत-से गुण थे, उनकी बहुत-सी मर्यादाएं भी थीं। बहुत-कुछ शान्त हो जाने पर भी उनके स्वभाव में उग्रता अन्त तक बनी रही, पर मिलनसारिता उनमें इतनी थी कि जहां रहते थे, वहीं उनके संगी-साथियों का बड़ा समुदाय बन जाता था। दरियागंज मेरे पास आते थे, तो अपने सारे परिचितों से मिलकर जाते थे। जो नहीं मिलते थे, उनकी कुशल-क्षेम मुझसे या किसी से पूछ लेते थे। आज जाने कितने लोग उनको याद

करते हैं।

१३ फरवरी १९७३ को ८३ वर्ष की अवस्था में उनकी लम्बी लोक-यात्रा का अन्तिम पड़ाव आ गया। शरीर उनका दुबला-पतला था, पर आखिरी समय तक कमर उनकी सीधी और सीना उनका तना रहा।

वे वास्तव में वटवृक्ष थे, जो दृढ़ता से खड़ा रहा और जो भी उनके नीचे आया, उसी को छाया और शीतलता प्रदान की।

मैं बराबर अनुभव करता रहा हूं और माताजी तथा पिताजी के बिछोह के बाद मेरी यह अनुभूति और भी गहरी हो गई है कि अभिजात्य तथा अभावग्रस्त वर्गों के बीच की खाई को दूर करने के लिए हमें विद्रोही बनना चाहिए। माता-पिता जिस घर में रहे, उसमें न धूप जाती है, न खुली हवा का प्रवेश होता है। पैसे को मोह-ममता न होने पर भी उन्हें जो भौतिक सुविधाएं मिलनी चाहिए थीं, नहीं मिलीं। मुझे लगता है जब-तक एक ओर ढेर रहेगा तो दूसरी ओर अनिवार्यतः गड्ढा रहेगा। स्वतन्त्र देश के नागरिकों को पौष्टिक और शुद्ध भोजन न मिले, रहने को खुला मकान न हो, काम के साधन न हों, चारों ओर घुटन हो तो इससे अधिक लज्जा की बात क्या हो सकती है ?

और उन्हीं के साथ पिताजी का स्वर उभरता है, "ऐसा कुछ करो, जिससे हर आदमी को इज्जत के साथ जीने का मौका मिले।"

और मैं हूं कि लाचारी से कभी समाज का मुंह देखता हूं, कभी सरकार का। अखबारों में अपनी बात लिखता हूं, सभाओं में अपनी बात कहता हूं, लेकिन सत्ता का और पैसे का जोर और शोर इतना है कि मेरी बात अरण्यरोदन-सी होकर रह

जाती है।

यह हमारा दुख है और जबतक जीयेंगे, रहेगा। पिताजी की आत्मा को हमें सुख देना है तो वह तभी मिलेगा जबकि समाज में आर्थिक विषमता दूर होगी और गरीब को भी सम्मान-पूर्वक जीने की उतनी ही सुविधा मिलेगी, जितनी कि आज अमीरों को मिली हुई है।

१७ / इन्हें भी कैसे भूलूं

मेरे प्रारंभिक जीवन में जिन्होंने मुझे सबसे अधिक सहारा दिया, वे थे बाबूजी (मेरे श्वसुर, बा. कामता प्रसाद)। मेरी पढ़ाई-लिखाई में उन्होंने बड़ी सहायता की थी, मुझे आगे बढ़ाने में भी उन्होंने भरपूर प्रोत्साहन दिया। वह बहुत ही उदार थे। उनकी दृष्टि भी ऊंची थी। उनका बराबर प्रयत्न रहता था कि दूसरों की दृष्टि भी ऊंची हो, वे बड़े बनें। आज मैं जो कुछ हूं, वह उनके आशीर्वाद का ही फल है। वह आज होते तो उन्हें अपार हर्ष होता।

अपने अग्रज (श्री हजारीलाल जैन) के सम्बन्ध में क्या कहूं। उन जैसे परिश्रमशील, धैर्यवान और सहिष्णु व्यक्ति मेरे देखने में कम आये हैं। पिताजी के निधन के बाद उन्होंने सहज ही उनका स्थान ले लिया था। वह सबकी मंगलकामना करते थे। उनके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वह न बीते कल की चिन्ता करते थे न आने वाले कल की। वह मुझे निरन्तर बढ़ावा देते रहे और मेरी उन्नति से आनन्दित होते रहे। ३० नवम्बर १९८४ को उनका निधन

हो गया।

जिनके प्रति कुछ भी कहने में शब्द ओछे पड़ जाते हैं, वह हैं मेरी पत्नी आदर्श कुमारी। अपने माता-पिता की वह सबसे बड़ी संतान हैं। अपने पिता की योग्यता और तेजस्विता उन्होंने विरासत में प्राप्त की है। अपने घरवालों को नाराज करके वह मेरे पास आईं और घर-गिरस्ती के झंझटों और संघर्षों के बीच आगे बढ़ने का सतत् प्रयत्न करती रहीं। लड़की अन्नदा और लड़के सुधीर को जन्म दिया। दोनों बच्चों की उम्र बहुत छोटी थी कि मुझे पीलिया हो गया, जिसने मुझे मरणासन्न कर दिया। मेरे ठीक होने पर वह स्वयं बहुत अस्वस्थ हो गईं और उनके रोग-मुक्त होने में कई वर्ष लगे। किन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। उनकी दो छोटी बहनों (ज्ञान, जो डाक्टर हैं और प्रमिला) ने रात-दिन एक कर दिये और मेरे भार को बहुत-कुछ अपने ऊपर ले लिया।

विवाह के समय आदर्श इंटर सी. टी. थीं। विवाह के बीस वर्ष बाद, जबकि लड़की अन्नदा प्रेप में पढ़ती थी, उन्होंने बी. ए. के दूसरे वर्ष में इन्द्रप्रस्थ गर्ल्स कॉलेज में औपचारिक रूप से दाखिला कराया और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुईं। दिल्ली विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान मिला। फिर एम. ए. किया प्रथम श्रेणी में, विश्वविद्यालय में तृतीय स्थान पाया। अनंतर डेनिस सरकार की फैलोशिप पर डेनमार्क गईं और आठ महीने रहकर वहां के फोक हाई स्कूल मूवमेंट का विशेष अध्ययन किया। डेनिस भाषा का अभ्यास किया। वहां से स्वीडन, इंगलैण्ड, फ्रांस घूमती हुई भारत लौटीं और कुछ समय बाद कालिन्दी कॉलेज में हिन्दी की प्राध्यापिका हो गईं। सन् १९८६ में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

लोक कथाओं में उनकी विशेष रुचि है। उनके तीन संग्रह निकले। उनमें एक संग्रह की कहानियों का लाइपजिग विश्व-विद्यालय से जर्मन में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। स्टीफन ज्विग के दो उपन्यासों के हिन्दी रूपान्तर किये। कृष्णा हठी-सिंह की संस्मरण-पुस्तक 'शैडोज आन दी वाल' का भी अनुवाद किया। काफी समय तक ऑल इण्डिया रेडियो में ब्रज कार्यक्रम की संयोजिका रहीं। जापान में लोक कथाओं के सम्बन्ध में टोकियो से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसमें एक अध्याय उनकी लोक कथाओं पर छपा है।

यह सब तो कृतित्व की बात हुई; लेकिन उनकी एक बड़ी विशेषता उनका अदम्य व्यक्तित्व है। वह किसी प्रकार के भी अनाचार और अत्याचार के आगे नहीं झुकतीं। वे सात बहनें और दो भाई हैं। सभी सुशिक्षित हैं। सभी स्वाभिमानी हैं।

लेखक की पत्नी होना वैसे गौरव की बात मानी जाती है, किन्तु वह बहुत आसान भी नहीं है। मेरे साथ आदर्श को कड़ुवे-मीठे दोनों प्रकार के अनुभव हुए हैं। जबतक वह कॉलेज में काम नहीं करने लगीं, हमलोग बहुत ही आर्थिक कष्ट में रहे। महीने के अन्तिम दस दिन काटना मुश्किल होता था। उन्होंने सादगी का जीवन अपनाया, किन्तु किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया।

सबसे बड़ी कष्टकर स्थिति उनके लिए यह थी कि जब-जब वह मुझसे पैसे की तंगी की बात करती थीं, उन्हें एक ही उत्तर मिलता था, "तुम्हारे तो बीस दिन निकल जाते हैं, करोड़ों ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका बीस दिन भी निकलना मुश्किल होता है।" जब वह कहती थीं कि ऐसे भी लोग हैं, जो आनंद की जिन्दगी बित्ताते हैं तो उत्तर मिलता, "आगे मत देखो, पीछे

देखो !" दरअसल मेरी भी तो लाचारी थी। अधिक कमाई की ओर मेरा ध्यान ही नहीं था।

हम पांच भाई थे। सब बड़े परिवारवत्सल थे। सबके अपने-अपने भरे-पूरे परिवार, किन्तु आर्थिक दृष्टि से सब औसत दर्जे के। किसी के पास इतना पैसा नहीं रहा कि दूसरे की मदद कर सकें।

आदर्श ने वह सब सहा; लेकिन समाज में अपनी धाक बनाये रक्खी। कभी किसी का एक पैसा नहीं रोका। मुझे याद है, जिसकी दुकान से खाने-पीने आदि का सामान आता था, वह एक दिन कहने लगा, "बाबूजी, कुछ लोग हैं, जिनकी ओर दो-दो तीन-तीन महीने की उधारी हो जाती है और वे अपना घर बदल लेते हैं। हमें बड़ी परेशानी होती है।"

इस पर मैंने विनोद में कहा, "हम भी ऐसा ही करें क्या ?"

उसने आदर्श की ओर देखकर कहा, "बीबीजी ऐसा हरगिज नहीं कर सकतीं।" इतना विश्वास उन्होंने अर्जित कर लिया था।

एक दिन उन्हें सड़क पर किसी की सोने की जंजीर और लाकेट पड़ा मिला। दोनों मिलाकर काफी कीमती थे। लेकिन आदर्श ने तत्काल 'नवभारत टाइम्स' को फोन करके उसमें समाचार दे दिया। समाचार के छपते ही एक महिला आई। जंजीर और लाकेट उन्हीं का था। ले गईं।

आदर्श के चरित्र की यह बहुत बड़ा खूबी है कि उन्होंने न कभी किसी के पैसे पर आंख लगाई और न बेहद तंगी के दिनों में भी कभी अपने को नीचे झुकने दिया।

आदर्श ने मेरा कितना ध्यान रक्खा है और आज भी रखती हैं, वह विस्मय-जनक है। शरीर उनका सदा से दुर्बल रहा है,

फिर कभी कोई तो कभी कोई, रोग समय-समय पर हैरान करता रहता है, लेकिन क्या मजाल कि समय पर खाना तैयार न हो। अपने शरीर में उन्होंने जोर-जोर से आर लगाई है और चलाया है। आज भी यही हालत है।

स्वभाव उनका तेज है और उन्हें इस बात पर खीज होती है कि घर के सम्भालने में मैं सहायक क्यों नहीं होता? क्या घर उन्हीं का है? मेरा उससे कोई सरोकार नहीं? सबके बावजूद घर वह अकेली सम्भालती हैं। फिर भी बोझ और बढ़ गया है। टांगों में उनके आर्थराईटिस का दर्द रहता है। वह कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि चलना दूभर हो जाता है। फिर भी चलती हैं और काम करती हैं। अब मधुमेह ने उनकी शक्ति को और क्षीण कर दिया है, पर असम्भव है कि खाने की चीजों की संख्या में कटौती हो जाये! तेज बात करेंगी, बड़-बड़ायेंगी, लेकिन यह स्वप्न में भी नहीं हो सकता कि मैं कभी बिना खाना खाये दफ्तर या और कहीं चला जाऊं!

कॉलेज जल्दी जाना होता था तो खाना बनाकर रख जाती थीं। पर मुझ जैसे निकम्मे आदमी से कभी-कभी फ्रिज से सारी चीजें भी नहीं निकाली जाती थीं; खाने को गरम करना तो दूर रहा। हारकर उन्होंने हॉट केस मंगवा कर रक्खा।

संक्षेप में कह सकता हूं कि उन्होंने हृदय मां का पाया है, किन्तु बुद्धि विद्रोही की पाई है। हृदय और मस्तिष्क के बीच उनके भारी कशमकश होती रहती है और दोनों अपना-अपना काम करते रहते हैं। कोई किसी से दबता नहीं।

कहावत है कि बड़े वृक्ष के नीचे छोटा वृक्ष नहीं पनप सकता। आदर्श बहुत अच्छा लिखती हैं। उनमें अच्छी लेखिका बनने की क्षमता है। किन्तु उनकी लेखन-शक्ति मेरे साथ विकास

का पूरा अवसर नहीं पा सकी। उनके अन्तर में एक ग्रंथि बन गई कि एक घर में दो लेखक नहीं हो सकते। परिणाम यह कि वह उस ओर से उदासीन हो गई और उन्होंने अपने व्यक्तित्व को कुण्ठित कर डाला।

अपने घरबार के लिए नारी सदा से त्याग करती आई है; लेकिन आज की नारी अपने व्यक्तित्व के मूल्य का त्याग नहीं करना चाहती। आदर्श के अन्दर, उच्चशिक्षा के बावजूद पुराने संस्कार काम करते हैं।

और किस-किसने मेरे साथ क्या-क्या किया है, उस सबको गिनाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। कुछ का उल्लेख मैंने विभिन्न स्थानों पर किया है। मैं उन ज्ञात-अज्ञात सभी बंधुओं और बहनों का हृदय से आभार मानता हूं और जाने-अनजाने हुई अपनी भूलों के लिए करबद्ध क्षमा-याचना करता हूं।

१८ / मेरी जीवन दृष्टि-१

वकालत न करने के निश्चय के साथ मैंने सोच लिया था कि जहां मालिक और नौकर के जैसे सम्बन्ध होंगे, वहां मैं नौकरी नहीं करूंगा। 'सस्ता साहित्य मण्डल' एक गांधीवादी संस्था है। गांधी-विचार तथा राष्ट्र के प्रति उसकी प्रतिबद्धता देखकर मैंने उसमें काम करना आरम्भ किया था। सर्वश्री हरिभाऊजी उपाध्याय और मार्तण्डजी आदि के साथ शुरू से ही मेरे पारिवारिक सम्बन्ध रहे। वही स्थिति 'जीवन सुधा' मासिक पत्रिका में भी रही। उसके संचालक मुझ अपने परिवार का ही एक सदस्य मानते थे। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी गांधी-परिवार के

अभिन्न अंग रहे थे। उनकी आत्मीयता तो अपनी सानी नहीं रखती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने जहां भी काम किया, आत्मीयता से प्रेरित होकर पूरी आजादी से किया।

हमलोगों की आर्थिक स्थिति कैसी थी, इसका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूं। बड़ी तंगी थी। अपनी शैक्षिक योग्यता को देखते मुझे कहीं भी ऐसी नौकरी मिल सकती थी, जहां कई गुना अधिक पैसा मिलता। पर मेरा ध्यान उधर गया ही नहीं। मैं बी. ए., एल-एल. बी. था, लेखन, अनुवाद, सम्पादन आदि का अनुभव था, परिश्रम की आदत थी, अतः अधिक वेतन वाली नौकरी पाने में मुझे कठिनाई नहीं होती, पर उस ओर कभी रुझान हुआ ही नहीं, कई प्रस्ताव अयाचित रूप में आये। उन्हें ठुकराने में मुझे देर न लगी।

महात्मा गांधी को हिन्दी अनुवाद के लिए एक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी। उन्होंने बम्बई के 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर' के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी से चर्चा की, तो प्रेमीजी ने मुझे लिखा। वह बड़ा सौभाग्य था, पर मेरा मनोभाव दिल्ली छोड़ने का नहीं था। मैं दिल्ली में बैठे-बैठे हरिजन सेवक आदि पत्र के लिए उनकी रचनाओं का अनुवाद करता रहा, पर उनके प्रस्ताव को नहीं मान सका।

तत्पश्चात् इलाहाबाद के लीडर प्रेस की व्यवस्था का दायित्व अपने ऊपर लेने का प्रस्ताव आया। जो भत्ते जैसा पारिश्रमिक मुझे मिल रहा था, उससे कई गुना वेतन, कार और बंगला, पर उसके लिए भी मैंने अपनी स्वीकृति नहीं दी। उसके लिए इलाहाबाद में जाकर रहना होता। मैं दिल्ली में रहकर ही संघर्ष करना चाहता था।

'मधुकर' में काम करने के पश्चात् फिर मैं दिल्ली आया।

मेरे बचपन के साथी जगदीश चन्द्र माथुर दिल्ली में आल इंडिया रेडियो के डायरेक्टर जनरल नियुक्त हुए। उन्होंने मुझे अपने साथ रेडियो में आने का बुलावा दिया। हम दोनों का बचपन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। फिर, वेतन अपेक्षाकृत बहुत अच्छा था, लेकिन मैंने उनसे भी यह कहकर पीछा छुड़ा लिया कि जिसने अपने जीवन में अबतक कभी सरकारी नौकरी नहीं की, वह अब आगे क्या करेगा! वस्तुत: मेरे अन्तर्मन में यह बात बड़ी गहरी बैठी हुई थी कि मैं यथासम्भव गांधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रचार-प्रसार में योग दूं।

मेरे हितैषी संगी-साथी बराबर सलाह देते थे कि क्यों बेकार में इतनी हैरानी उठा रहे हो? किसी बड़ी नौकरी पर जाओ और अच्छी कमाई करके आराम की जिन्दगी बिताओ, किन्तु उस अर्थ में, जिसमें वे कहते थे, आराम मेरे भाग्य में बदा ही नहीं था। मैंने आरम्भ से ही अपने को मजदूर माना था और उसी स्थिति में जीवन भर रहना चाहता था।

देश-विदेश की यात्राओं का मेरा व्यसन है। उसमें जो खर्च होता है, वह तो होता ही है पर उसके अतिरिक्त मैंने किसी प्रकार की फिजूलखर्ची को प्रश्रय नहीं दिया। सादा कपड़े, सादा रहन-सहन, सादा खान-पान, सिगरेट, पान आदि से दूर। गर्व के साथ नहीं, बड़ी विनम्रता से कहना चाहता हूं कि अपने जीवन में मांस, मदिरा को छुआ तक नहीं। कुछ देशों की यात्रा में खाने-पीने का बड़ा कष्ट रहा, पूर्ण शाकाहारी भोजन आसानी से नहीं मिलता था, पर मैंने अपनी आन नहीं छोड़ी।

मुझे लगता है कि आज के कृत्रिम घटाटोप और झूठे आडम्बर ने हमारे देश को घोर संकट में डाल दिया है। आज भौतिक उपलब्धियों के पागलपन-भरी होड़ लगी हुई है, उसने

देश के चरित्र का हनन कर दिया है। 'सादा रहन-सहन, उच्च विचार' का जो मूलमंत्र भारतीय संस्कृति ने दिया था और जिसका बड़ा ही उत्कृष्ट दृष्टान्त गांधी, विनोबा ने अपने जीवन से प्रस्तुत किया था, उसे एकदम भुला दिया गया है।

मेरा पक्का विचार है कि निजी और सार्वजनिक जीवन में जबतक ऊपरी दिखावट, तड़क-भड़क रहेगी और उस पर पानी की तरह पैसा बहाया जाता रहेगा, तबतक हमारा देश भले ही विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में कितना ही विकास क्यों न कर ले, चरित्र की दृष्टि से दिवालिया बना रहेगा।

१६ / मेरी जीवन दृष्टि-२

आज के समय के अनुसार पिचहत्तर वर्ष का जीवन काफी लम्बा माना जाता है और समझा जाता है कि व्यक्ति को जो करना था, कर चुका। पर मैंने तो अपने जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं किया, जो उल्लेखनीय हो और जिस पर मैं गर्व कर सकूं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे कर्म-क्षेत्र मुख्यत: साहित्य और संस्कृति रहे हैं, लेकिन इन क्षेत्रों में भी लगभग पचास वर्ष व्यतीत करने के बावजूद मैंने गिनाने योग्य क्या किया? जो लिखा, वह मुझे लिखना ही चाहिए था, जो किया, वह मुझे करना ही चाहिए था और जो कहा, वह मुझे कहना ही चाहिए था। वह मेरा कर्तव्य था, और कर्तव्य हर आदमी को करना ही होता है। यह मैं शिष्टाचार-वश नहीं कह रहा और न परम्परागत विनय को दरशाने के लिए कर रहा हूं। औपचारिकता में मेरा विश्वास नहीं है। लेकिन दो बातें मैं स्पष्ट कह

देना चाहता हूं।

पहली बात तो यह है कि मैंने वही किया, जो मुझे उचित मालूम हुआ, सही मालूम हुआ। दूसरी बात यह कि जो करणीय नहीं था, वह मैंने कभी नहीं किया। कह सकता हूं, मैंने नीति के रास्ते पर चलने का सतत प्रयत्न किया और अनीति के रास्ते को स्वप्न में भी अंगीकार नहीं किया।

यह भी कह सकता हूं कि मैंने कभी किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रक्खी। इसलिए सच को निर्भीकतापूर्वक सच कहा और जो गलत था, उसे गलत कहने में कभी कोई हिचकिचाहट नहीं की।

आज देश की स्थिति बड़ी नाजुक हो रही है। सत्ताधारी की सुहाती कहो तो कुछ भी प्राप्त हो सकता है, लेकिन आलोचना करो, भले ही वह सही हो, तो सत्ताधारी सहन नहीं करता। राजनीति में निष्पक्ष आलोचक की कोई जगह नहीं है। राजनीति का बोलबाला है। भाषा, संस्कृति, धर्म गर्जेकि सबमें राजनीति समाविष्ट है। राजनीति के बिना एक कदम चलना दूभर है।

यही हाल पैसे का है। यदि आपके पास पैसा है तो कोई चिन्ता नहीं। पैसा नहीं है तो समाज में आपकी कोई हस्ती नहीं है। आपका रास्ता भले ही सच्चाई और ईमानदारी का हो, पर आपके हाथ में सत्ता और धन नहीं है तो आपका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

मुझे यह स्थिति कभी स्वीकार नहीं हुई। यही कारण है कि जिन्होंने दूसरा मार्ग अपनाया अर्थात् जमाने के साथ चले, वे मेरे देखते-देखते कहीं-के-कहीं पहुंच गए। उन्होंने पद पाया, धन बटोरा और दुनिया की निगाह में बुद्धिमान सिद्ध हुए।

सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि मानव मूल्यों को सुरक्षित रखने की जिन बुद्धिजीवियों और गांधी-विचार क्षेत्र के व्यक्तियों से आशा थी, उनमें से अधिकांश या तो सत्ता और धन के व्यामोह में फंस गए या पस्त होकर बैठ गए।

जो रास्ता मैंने चुना, वह कठिन था, बहुत कठिन था; पर चूंकि मैंने वह स्वेच्छा से चुना था, इसलिए मुझे उसका कभी मलाल नहीं हुआ। अनीति से कमाई करने की बात तो दूर, ईमानदारी से भी पैसा कमाने का रास्ता मैंने जानबूझ कर छोड़ा।

क़हने वाले कह सकते हैं कि तुम राजनीति और धन को महत्व नहीं देते तो उसका कारण यह है कि राजनीति में जगह पाने के लिए और धन कमाने के लिए जो दम-खम चाहिए, वह तुममें नहीं है, जो दांव-पेंच चाहिए, उन्हें तुम नहीं जानते। खतरे के पद को सम्भालने के लिए जो हौसला और सामर्थ्य चाहिए, जोखिम उठाने का साहस चाहिए, उसका तुममें सर्वथा अभाव है। मैं मानता हूं, मुझमें अभाव है। ऐसे हौसले और सामर्थ्य को मैं दूर से ही नमस्कार करता हूं। मेरी अवस्था चुपचाप, मूक भाव से, काम करने में रही है।

यहां मुझे एक पुरानी रोचक घटना याद आती है। कुण्डेश्वर में हम समय-समय पर श्रमदान करते रहते थे, कूड़ा-कर्कट हटाना, नालियां साफ करना, मिट्टी खोदकर गड्ढे भरना आदि-आदि काम स्वयं कर डालते थे। एक बार हमारी टोली में एक नए महानुभाव शामिल हुए। उन्होंने हमको मेहनत से पसीना-पसीना होते देखकर विनोद में कहा, "आप लोग भी अजीब हैं। मिट्टी की टोकरी ऊपर तक भर कर उठाते हैं। कहीं काम ऐसे किया जाता है? देखो, काम का तरीका यह है।"

उन्होंने टोकरी में एक फावड़ा मिट्टी डाली और फिर उसे ऐसे उठाया, मानो वह ऊपर तक भरी हो और ऐसे लेकर चले, जैसे सिर पर कितना बोझ हो। चलने के साथ-साथ कुछ ऐसे स्वर में आह भी भरते जाते थे, जैसे सिर पर पहाड़ रक्खा हो। एक खेप ढोने के बाद बोले, "देखो, काम इस तरह होता है। काम कम करो, शोर ज्यादा मचाओ।"

उन भाई ने विनोद में जो कहा और किया, आज वही सचमुच में हो रहा है। शोर मचाने वाले ऊपर पहुंच रहे हैं और काम करने वाले नीचे पड़े हैं।

साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। वे दिन लद गए जब आदमी का काम बोलता था। अब शब्द बोलता है।

मैंने अपने कार्य-काल की लगभग अर्द्ध शताब्दी को अकारथ नहीं खोया। प्रत्येक क्षण का पूरा-पूरा उपयोग किया है। कुण्डेश्वर के छह और 'सस्ता साहित्य मण्डल' के चौवालीस वर्षों में मुझसे जो कुछ बन पड़ा है, उसे करने में मैं कभी पीछे नहीं रहा। 'मधुकर' के अंक, कई ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन तथा अन्य प्रवृत्तियों के संचालन में जो सेवा मुझसे हो सकी है, दादाजी (श्री बनारसीदास चतुर्वेदीजी) ने उसका उल्लेख अपने लेखों में किया है। चौवालीस वर्षों में 'सस्ता साहित्य मण्डल' से जो प्रकाशन हुए हैं, पुस्तकों के साथ जो विशालकाय अभिनन्दन अथवा स्मृति ग्रन्थ निकले हैं, 'मण्डल' के विकास की जो योजनाएं बनीं और क्रियान्वित हुई हैं, उनमें थोड़ा-बहुत हाथ मेरा भी रहा है।

कहावत है, कहने से काम का पुण्य घट जाता है। मुझे यह सब कहना नहीं चाहिए। पर मैं चाहता हूं कि लोग जानें कि एकान्त साधन का भी अपना महत्व और आनन्द है। कसकर

काम करने के बाद जिस संतोष और आनन्द की अनुभूति होती है, उसे वही जान सकते हैं, जिन्होंने वह प्राप्त किया है। गौरीशंकर की चोटी पर चढ़ने का आनन्द उन्हीं को मिलता है, जो उस पर चढ़ते और वहां पहुंचते हैं। नीचे खड़े होकर जो उस ऊंचाई को देखते हैं, उनका आनन्द अधूरा रह जाता है।

यह कहना गलत होगा कि वर्तमान युग एकदम अंधेर का युग है, इसमें आदमी की कतई कीमत नहीं। मूक सेवकों की ओर भी कभी-कभी निगाह चली जाती है। मुझे भी दो बार 'सोवियत लैण्ड नेहरू' पुरस्कार मिल चुका है। एक बार मेरी पुस्तक 'रूस में छियालीस दिन' पर, सन् १९६८ में, और दूसरी बार मेरी पुस्तक 'सेतु निर्माता' पर, सन् १९७७ में। मेरी कुछ अन्य पुस्तकें राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। मेरी कहानियों तथा अन्य रचनाओं के भारतीय और विदेशी भाषाओं में रूपान्तर हुए हैं। 'मिलन', 'जीवन-सुधा', 'मधुकर' 'जीवन साहित्य' के संबंध में मुझे सैकड़ों प्रशंसात्मक पत्र मिले हैं। विदेशों में मेरे हिन्दी और उसके साहित्य के प्रचार-प्रसार में दिये गए यत्किंचित योगदान को लोगों ने उदारतापूर्वक सराहा है।

यह सब नहीं होता तब भी मैं अपने अंगीकृत मार्ग को नहीं छोड़ता। आखिर उस मार्ग को मैंने किसी के दबाव में आकर तो नहीं चुना था। अतः उसे छोड़ने का प्रश्न ही नहीं था। निश्चय मानिए कि अपनी दिशा को न छोड़ने और चुपचाप चले चलने का मुझे बेहद संतोष है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे' रचना मुझे बहुत पसन्द है। जो दुनिया के साथ नहीं चलते, उन्हें अकेला ही चलना पड़ता है। वस्तुतः उनकी सफलता ही अकेले चलने में है।

एक बात में मैं अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता हूं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुझे अनेक महापुरुष मिले। उनका स्मरण करता हूं तो बड़ी धन्यता अनुभव होती है। राजनीति, साहित्य, संस्कृति, धर्म, अध्यात्म, कला आदि का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें मुझे एक-से-एक बढ़कर विभूतियां न मिली हों। उनका रास्ता बड़े कसाले का था, पर उन्होंने उस पर चलने की प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में मुझे प्रेरणा दी। असंख्य व्यक्तियों का प्रेम मेरा पाथेय बना और मैं मजबूती से उस रास्ते पर चलता गया।

अब जीवन का उत्तरार्द्ध है। लम्बे सफर में प्रायः लोग थक जाते हैं। उनका मन विश्राम करने को होता है। पर मैं तो न थका हूं, न विश्राम लेने की मेरी इच्छा है। मेरी तो यही कामना है कि जबतक जीऊं, जो भी इन हाथों से बन सके, सेवा करता रहूं।

एक बार गंगोत्री की यात्रा में एक निरक्षर ग्रामीण बहन ने बड़ी उद्‌बोधक बात कही थी—"तीर्थ-यात्रा में दुःख सहा जाता है, कहा नहीं जाता।" इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूं कि असली मर्द वही है, जो विष पीता है और अमृत देता है।

२० / वर्तमान युग के मूल्य

मैंने जो भी काम हाथ में लिया, उसे अपना कर्त्तव्य मानकर चुपचाप करता रहा। राजनीति, शिक्षा, राष्ट्रभाषा, समाज, संस्कृति, कला आदि के क्षेत्र में बहुत-से काम किये, पर उनका

ढिढोरा कभी नहीं पीटा। साहित्य मेरा प्रमुख क्षेत्र रहा। उसमें कहानी, निबंध, कविता, संस्मरण, यात्रा वृत्तान्त, रूपक इत्यादि के रूप में प्रचुर साहित्य की रचना की, अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किये, सम्पादन किया, संकलन किये, और लोगों का कहना है कि जितने अभिनन्दन और स्मृति ग्रंथ मैंने निकाले, उतने किसी ने नहीं निकाले। गांधी, विनोबा, राजेन्द्रबाबू, जवाहरलाल नेहरू, काका साहेब कालेलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, नाथू राम प्रेमी, जानकी देवी बजाज, श्रीमन्नारायण, कमलनयन बजाज आदि के ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। 'सस्ता साहित्य मण्डल' के सैकड़ों उत्तम-से-उत्तम ग्रंथों के सम्पादन तथा सुरुचि-पूर्ण प्रकाशन में भी मेरा यत्किंचित योगदान रहा। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि मैंने पूरी ईमानदारी और पूरी क्षमता से अपने समय का उपयोग किया और बिना हारी-बीमारी और पारिवारिक कठिनाइयों की चिन्ता किये अपने काम में जुटा रहा। आज भी पिचहत्तर वर्ष की अवस्था में मैंने कभी काम से मुंह नहीं मोड़ा।

लेकिन दुर्भाग्य से, आज मूल्य बदल गये हैं। स्वराज्य मिलने के बाद इन वर्षों में बड़ी तेजी से परिवर्तन आया है। आप सच्चाई से काम करिये, ईमानदारी से रहिए, सादगी का जीवन व्यतीत कीजिये और मुंह पर ताला डाले रखिये, आपको कोई पूछेगा तक नहीं। किन्तु काम थोड़ा कीजिये और चिल्ला-इये खूब, आप कहीं-के-कहीं पहुंच जायेंगे। दलील दी जाती है कि जबतक बच्चा चिल्लाता नहीं, मां उसे दूध नहीं देती। यही बात काम करने वालों के लिए सत्य है। आप चाहते हैं कि आपकी गणना उच्चकोटि के लेखकों में हो तो पत्र-पत्रि-काओं के सम्पादकों के दफ्तरों के चक्कर लगाइये, लोगों को

पकड़-पकड़ कर अपने बारे में लिखाइये, अपना दल बनाइये अथवा किसी दल में शामिल होइये, अधिकारियों के पीछे दौड़िये, प्रचार के माध्यमों की खुशामद कीजिये और फिर देखिये कि आपका नाम कितना चमकता है, आप कहां-के-कहां पहुंचते हैं और आपका कितना मान-सम्मान होता है।

यह सब मैंने किसी की अवमानना करने के लिए नहीं लिखा है, वर्तमान युग के यथार्थ को उजागर करने की दृष्टि से लिखा है। आज मैं ऐसे कई लेखकों को जानता हूं, जो सच्चे अर्थों में समाज और साहित्य की सेवा कर रहे हैं, किन्तु उनका हाल बेहाल हो रहा है। इसके विपरीत कुछ लोग, जिनकी सेवाएं नगण्य हैं, प्रचार के बल पर न केवल विख्यात लेखक माने जाते हैं, अपितु अनेक सरकारी और गैर सरकारी कमेटियों में शामिल कर दिये गए हैं। वे समारोहों में अध्यक्ष के रूप में सुशोभित किये जाते हैं, जबकि पुराने सेवक बैठे-बैठे उनका मुंह ताकते हैं।

मूक सेवा की कीमत अब नहीं रही। प्रचार के युग में यही होता है। कहावत है कि कलम की धार खांडे की धार से भी अधिक तेज होती है। आज कलम की वह धार कुण्ठित हो गई है। राजनीति के वर्चस्व ने इसे और भी बढ़ावा दिया है। कुछ समय पूर्व अजमेर जाने का अवसर मिला। दिल्ली से आरक्षण कराकर गया था। उधर से आरक्षण कराना था। आरक्षण-विभाग में गया तो उन्होंने बताया कि मेरा नाम प्रतीक्षारतों की सूची में अठारहवां है। जब मैंने बहुत आग्रह किया तो अधिकारी ने कहा, "आप गाड़ी के समय आ जाइये। कोई जगह गाड़ी में खाली हुई तो आपको दे देंगे।" मैं समय पर स्टेशन पहुंच गया। अधिकारी ने कहा, "एक भी सीट खाली नहीं है।" अब क्या हो? मेरा दिल्ली लौटना जरूरी था। तभी मैंने देखा,

एक ओर बड़ी भीड़ हो रही है। रेल के सारे अधिकारी एक डिब्बे के पास खड़े हैं। मैंने पूछा, "यह क्या है?" किसी ने बताया कि कुछ सांसद यहां आये थे। इस गाड़ी से जा रहे हैं। मैंने रेल के एक अधिकारी से कहा, "इनके डिब्बे में जगह होगी। जाओ, कह दो।" अधिकारी ने मेरे मुंह की ओर देखा और बड़ी गम्भीरता से बोला, "उनसे कौन कह सकता है?" गाड़ी छूटने का समय हो गया। गार्ड ने सीटी दे दी। गाड़ी चलने को हुई। सब अपने डिब्बों में चले गए। सांसदों के डिब्बों के बाहर खड़े खादी का कुरता और पाजामा पहने आखिरी युवक को जब मैंने अन्दर जाते देखा तो यह समझकर कि वह सांसद हैं, मैं सपाटे से वहां पहुंचा और उनको एक सांस में अपना परिचय देकर गाड़ी में जगह दिलवाने का अनुरोध किया। उन महानुभाव ने रेल अधिकारी से मुझे एक सीट देने को कहा। उनके कहते ही एक क्षण में मुझे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में नीचे की सीट मिल गई। मैंने चैन की सांस ली, पर बेचारी कलम सिसक रही थी।

ऐसी एक नहीं, सैकड़ों-हजारों मिसालें आज देखने को मिलती हैं। राजनीति का छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी, विशेषकर सत्तारूढ़ दल का, इतना शक्ति-सम्पन्न है कि बड़े-से-बड़ा लेखक भी उसके सामने ठहर नहीं सकता। सच यह है कि आज के मूल्य सत्ता और धन की धुरी पर घूम रहे हैं और प्रचार उनकी प्राप्ति का प्रमुख साधन बना हुआ है।

मैंने इस सबका उल्लेख इसलिए किया है कि यह स्थिति किसी भी देश के लिए अच्छी नहीं है। जिस राष्ट्र का अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा हो, उसका भवन नैतिक मूल्यों के अधिष्ठान पर खड़ा होना चाहिए। यह नहीं कि अनीति एकदम

मिट जायेगी। प्राचीन काल में भी अनीति थी, लेकिन इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि वह युग उत्तम माना जाता है, जिसमें नीति का पलड़ा अनीति के पलड़े से भारी होता है। आजादी के लिए संघर्ष करते हुए गांधीजी ने बराबर इस बात की सावधानी रक्खी थी कि किसी प्रकार भी नैतिक मूल्यों का ह्रास न होने पावे, अर्थात् सत्य और अहिंसा आदि की प्रतिष्ठा बराबर बनी रही। पर वे मूल्य तो आज समाप्त हो गये हैं।

२१ / देर है पर अंधेर नहीं

पहले कह चुका हूं कि मैंने अपने जीवन में कभी प्रचार का सहारा नहीं लिया। बड़े-से-बड़े राजनेताओं, उद्योगपतियों, समाज-सेवियों आदि से मेरे घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं और हैं, पर मैंने उनसे व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए कभी कोई याचना नहीं की।

पिछले अध्याय में मैंने मूल्यों के ह्रास का उल्लेख किया है। पर इससे यह न समझा जाय कि देश का पुण्य पूरी तरह क्षीण हो गया है। कहावत है कि निस्वार्थ भाव से की गई साधना अकारथ नहीं जाती। उससे साधक को जो आत्म-संतोष होता है, उसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। फिर उसका प्रभाव कुछ-न-कुछ अंशों में दूसरों पर पड़ता ही है। मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने जो कुछ थोड़ी-बहुत सेवा की, उससे कई गुना अधिक सम्मान मुझे मिले, पुरस्कार मिले। बचपन में सुलेख के लिए जो पेड़े मिले थे, उन्होंने जाने-अनजाने मेरे अव-चेतन मन पर यह बात बिठा दी थी कि परिश्रम करना हमारा कर्त्तव्य है। गीता का यह सनातन सत्य तो बहुत समय बाद

सामने आया कि मनुष्य को कर्म करना चाहिए, किन्तु फल ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए। पर इस सत्य का प्रथम अंश निरन्तर मेरे सम्मुख रहा। पेड़ों की मिठास मेरे मुंह में सदा बनी रही और आगे चलकर उसने मुझे यह अनुभूति कराई कि सिद्धि उसको मिलती है, जो साधना करता है।

अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मैं उस प्रेम को मानता हूं, जो मुझे सभी क्षेत्रों और सभी वर्गों में मिला, अपने देश में और देश के बाहर के विभिन्न देशों में। सम्भव है, कुछ लोगों को मेरे द्वारा दुःख भी पहुंचा हो, किन्तु मैं अपने अन्तः-करण को साक्षी रखकर कह सकता हूं कि मैंने कभी किसी के प्रति द्वेष-विद्वेष या दुर्भावना नहीं रखी और यथासम्भव दूसरों की सेवा करने का प्रयत्न किया। मुझे व्यापक रूप में स्नेह मिला, इससे बढ़कर मेरे लिए आनन्ददायक और क्या हो सकता था!

उपाधियां और सम्मान भी मुझे खूब मिले। विद्यावारिधि, साहित्यवारिधि। साहित्य रत्न आदि उपाधियां विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रदान की गईं, दो बार 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' मिला, दिल्ली की हिन्दी अकादमी ने मुझे सम्मानित किया, मेरी कई पुस्तकें केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों ने पुरस्कृत कीं। देश-विदेश में जहां भी गया, वहां उन्होंने मुझे पूर्ण सम्मान दिया। हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में शिक्षा-संस्थाओं, सार्वजनिक सभाओं, गोष्ठियों, टी. वी., रेडियो आदि पर भाषण कराये।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि संसार के अधिकांश देशों में, विशेषकर भारतीय-बहुल देशों में, भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति बड़ा आकर्षण तथा मान है, अतः जो कोई

भारत से साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि लेकर जाता है, उसका वे दिल खोलकर स्वागत करते हैं।

कुछ वर्ष पहले दिल्ली में महानगर परिषद में मुझे 'आल्डर मैन' का स्थान स्वीकार करने का अनुरोध किया गया। मैंने इन्कार कर दिया। जिन भाइयों ने अनुरोध किया, उनका कहना था कि मैं थोड़ा समय लेकर विचार कर लूं। पर मैंने कहा, "विचार करने को समय तो वहां चाहिए, जहां मन में द्विविधा होती है। मेरे मन में तनिक भी द्विविधा नहीं है"। मेरी पत्नी ने कहा, "स्वीकार कर लो और तमाशा देख लो।" मैंने कहा, "वह दलदल है। उसमें फंसने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।"

इस प्रकार मुझे अपने जीवन में खूब मान-सम्मान मिला। मैं सम्मान देने वालों के प्रति गहरी कृतज्ञता अनुभव करता हूं। मूल्यों का इतना अवमूल्यन न होने पर भी उन्होंने मुझे सम्मानित करने में कोई कोर कसर नहीं रक्खी।

इनके अतिरिक्त दो सम्मान और थे, जो मेरे जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। उनका उल्लेख मैंने अध्याय १३ और १४ में किया है।

२२ / जिस साहित्य ने मुझे प्रेरणा दी

बचपन में मैंने देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' पढ़ी थी। उसकी तिलिस्मी कहानी में इतना कौतूहल था कि मेरा बाल-मन उसे पढ़ते-पढ़ते प्रायः खाना भी भूल जाता था। कई बार रात की नींद गायब हो जाती थी। पुस्तक से क्या और कितना मिला, यह कहना तो

कठिन है, किन्तु उसने पुस्तकें पढ़ने की आदत डाल दी। बाद में 'भूतनाथ' आदि भी पढ़ी; पर उतना आनन्द नहीं आया, जितना 'चन्द्रकान्ता' के पढ़ते समय आया था। वह एक नई चीज थी।

राजनैतिक उथल-पुथल के युग में प्रेमचन्द की कहानियां और उपन्यास बड़े चाव से पढ़े। उनकी कहानियां रोचक लगीं और उपन्यास शिक्षाप्रद। किन्तु बंगला साहित्य के यशस्वी कथा-शिल्पी शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर से प्रकाशित हिन्दी रूपान्तर पढ़ा तो मैं दंग रह गया। इतनी मर्म-स्पर्शी कहानियां और उपन्यास पढ़ने का मुझे पहले अवसर नहीं मिला था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कुछ कहानियां और उपन्यास पढ़े थे, अच्छे लगे थे, पर जो स्पन्दन शरत में मिला, वह रवीन्द्र में नहीं मिला। शरत का कोई भी पात्र ऐसा नहीं था, जिसने मुझे झकझोर न दिया हो। उनकी अनेक कृतियों को मैंने एकाधिक बार पढ़ा। उनके कई पात्र और प्रसंग काफी समय तक मन में उमड़ते-घुमड़ते रहे।

जैनेन्द्र कुमार की कहानियां और उपन्यास प्रारम्भ में बड़े अच्छे लगे। वे अन्तर की गहराई में ले जाते थे, किन्तु जब उनकी कृतियों पर दार्शनिकता हावी होने लगी तो वे बड़ी बोझिल हो गईं। 'परख', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि को जिस सहजता से पढ़ लिया था, उस सहजता से उनके 'जयवर्द्धन' तथा 'दशार्क' को पढ़ना सम्भव नहीं हो पाया।

मैथिलीशरणजी की 'यशोधरा' को पढ़ते समय कई बार मेरा जी भर आया, किन्तु उनकी प्रारम्भिक कृति 'भारत-भारती' को छोड़कर और कोई रचना मुझे उतना प्रभावित नहीं कर सकी।

एक उम्र में महादेवी वर्मा और बच्चन के काव्य ने मेरे हृदय का स्पर्श किया। महादेवी के छायावादी स्वर ने और बच्चन की 'मधुशाला' की मस्ती और 'निशा-निमन्त्रण' आदि की विरह-वेदना ने। निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा', 'भिखारी' आदि के कुछ अंश मुझे आज भी याद हैं। हां, महादेवी वर्मा के संस्मरणों को पढ़कर मुझे शरत की याद आती रही।

गुजराती के झवेरचंद्र मेघाणी और मराठी के वि. स. खांडेकर ने मेरे हृदय को बड़ी स्वस्थ खुराक दी। मराठी की सुमति धनवटे और सुमति क्षेत्रमांडे के कुछ उपन्यास भी मुझे अत्यन्त रुचिकर लगे। धूमकेतु और सोपान की कुछ रचनाएं मुझे बड़ी प्रिय लगीं।

विदेशी लेखकों में मैक्सिम गोर्की की कहानियां मैं बचपन से ही पढ़ता आया था। उनका एक कहानी-संग्रह 'वे छब्बीस' मैं आज तक नहीं भूल सका। बाद में जब उनके उपन्यास पढ़े तो उनका भी मन पर असर पड़ा।

लियो टाल्स्टाय के उपन्यास, कहानियां तथा अन्य रचनाओं ने मुझे विचलित कर दिया। उनकी कहानी 'मनुष्य को कितनी जमीन चाहिए' (हाऊ मच लैण्ड डज मैन नीड) और 'मूरख-राज' (इवान, द फूल) को तो मैंने दसियों बार पढ़ा। जीवन को नीति-निष्ठ बनाने के लिए टाल्स्टाय ने अभूतपूर्व सामग्री प्रदान की है। उनकी पुत्री एलेक्जेंड्रिया की लिखी टाल्स्टॉय की जीवनी को पढ़कर मुझे अनेक स्थलों पर रोना आ गया। उनकी 'कितनी जमीन' कहानी मुझे यास्नाया पोलियाना में, उनकी समाधि पर ले गई थी। उनके 'युद्ध और शान्ति' (वार एण्ड पीस) उपन्यास ने तो नींद हराम कर दी थी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दिनों में डा. ईश्वरी प्रसाद ने

नेपोलियन में मेरी इतनी रुचि जाग्रत कर दी थी कि उस समय फिशर, एबट आदि की जो भी पुस्तकें मिलीं, सब पढ़ डालीं। नेपोलियन की वीरता ने मुझे जितना रोमांचित किया, उससे अधिक उसके हृदय की सम्वेदनशीलता ने। रणक्षेत्र में वह अपनी पत्नी जोजेफाइन के चित्र को हर घड़ी जेब में रक्खे रहता था। मनुष्य वज्र के समान कठोर होता है और फूल के समान कोमल, यह मुझे उसके चरित्र में दिखाई दिया।

लेकिन मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया अनातोले फ्रांस की 'थाई' ने। उस उपन्यास को मैंने बीसियों बार पढ़ा और एक-दो बार तो वह पूरा उपन्यास पढ़कर मैंने अपने मित्रों को सुनाया।

ईला बिस्कॉक्स की कई कविताएं तो मुझे कण्ठस्थ हो गईं। उनकी कुछ स्फुट पुस्तकें मुझको इधर-उधर से मिल गई थीं, लेकिन एक दिन जब जामा मस्जिद के कबाड़ी बाजार में घूमते हुए मुझे उनकी कविताओं का विशाल संग्रह तीन खण्डों में मिला तो मेरे आनन्द की सीमा न रही।

पर जिन्होंने मेरे मानवीय मूल्यों के ध्येय को पोषण दिया और मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह थे विश्व-विख्यात उपन्यासकार स्टीफन ज्विग। उनसे परिचय कराया दादा बनारसीदासजी ने। उन्होंने उनका एक उपन्यास 'लैटर फ्राम एन अननोन वूमन' दिया। उसे पढ़कर कई दिन तक मेरा मन उसमें फंसा रहा। फिर तो मैंने ज्विग की जितनी रचनाएं मिल सकती थीं, मंगवाई और पढ़ डालीं। कई कहानियों और उपन्यासों का मैंने और मेरी पत्नी ने अनुवाद किया, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। 'लैटर फ्राम एन अननोन वूमन' का अनुवाद मैंने कुण्डेश्वर में करना आरम्भ किया, किन्तु उसमें

भावनाओं की इतनी सूक्ष्मता थी कि मुझे लगा कि वे हिन्दी में उतने मार्मिक ढंग से नहीं आ सकेंगी। अतः आधा अनुवाद करके छोड़ दिया। बाद में जब मेरी पुस्तकें कुण्डेश्वर से दिल्ली आईं तो उनमें से कई पुस्तकें गायब थीं, जिनमें उपर्युक्त आधे अनुवाद की पाण्डुलिपि भी थी। दिल्ली आकर वह अनुवाद फिर से किया और वह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ।

ज्विग के अन्य उपन्यासों में, जिनका अनुवाद हमलोगों ने किया, वह है, 'विराट' और 'दी आईज ऑफ दी अनडाइंग ब्रदर।' यह उपन्यास गीता के निष्कर्म कर्म पर आधारित है। अत्यन्त हृदय-स्पर्शी कृति है।

ज्विग का अधिकांश साहित्य एक ग्रंथावली के रूप में छपा है—कैलेडस्कोप, भाग १, २. ३, ४। इनमें उनकी आतमकथा 'दी वर्ल्ड ऑफ यस्टर डे' भी आ गई है। मानव-हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं का इतना कुशल चितेरा विश्व में दूसरा शायद ही मिले। कहानियों तथा उपन्यासों की भांति उनके संस्मरण भी कमाल के हैं।

ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद में मैंने श्रीमती जैनवियर से बाईबिल पढ़ी थी। जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक हुआ तो मुझे भेंट में बाईबिल की एक प्रति मिली। वह पुस्तक आज भी मेरे पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके 'गिरि-प्रवचन' को मैंने सैकड़ों बार पढ़ा है। आज भी पढ़ता रहता हूं। ऐसा लगता है, मानो गांधीजी की बात कही जा रही हो।

खलील जिब्रान का पूरा साहित्य प्रेरणा का स्रोत है; लेकिन उनका 'जीवन संदेश' (प्रोफेट) और 'विद्रोही आत्माएं' (रिबैलियस स्प्रिट्स) तो बार-बार पढ़ने को जी करता है और जब

भी पढ़ता हूं, बड़ी ताजगी अनुभव होती है।

बचपन से अबतक हजारों पुस्तकें पढ़ी हैं। उन सबकी याद करना और सूची देना सम्भव नहीं है। इतना कह सकता हूं कि उनमें कुछ बहुत अच्छी लगीं, कुछ एकदम फालतू जान पड़ीं। अच्छी पुस्तकों का जाने-अनजाने कुछ-न-कुछ प्रभाव तो मन पर पड़ा ही होगा। आज अधिक पढ़ने का समय नहीं मिलता, फिर भी थोड़ा-बहुत पढ़े बिना नहीं रहा जाता।

गांधीजी ने कहा है कि अधिक पुस्तकें पढ़ना आवश्यक नहीं है। थोड़ी चुनी हुई पुस्तकें पढ़ना पर्याप्त है। किन्तु जो पढ़ा जाय, उस पर चिन्तन करना अत्यावश्यक है। अपने 'वाचन और विचार' लेखों में उन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला है। अपने दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि गांधीजी ने जो कहा है, वह सही है। रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक' पढ़कर उनके जीवन की दिशा ही बदल गई थी। उस पुस्तक में व्यक्त विचारों के अनुसार गांधीजी ने अगले दिन से ही नये रास्ते पर चलना आरम्भ कर दिया था। किसी महापुरुष ने ठीक ही कहा है कि अच्छे विचारों के अनुरूप कार्य न किया जाय तो वह गर्भपात के समान है। विचारों का इसलिए महत्व है कि उनसे जीवन के निर्माण में सहायता मिलती है। साहित्य का मुख्यतः यही प्रयोजन है कि वह ऐसे उद्धात्त विचार प्रदान करे, जो पाठकों के जीवन को ऊर्ध्वगामी बना सकें।

यहां मैं निस्संकोच कह सकता हूं कि देश को स्वराज्य मिलने के बाद विभिन्न विषयों और विधाओं में विपुल साहित्य की रचना हुई है, लेकिन उसमें बहुत कम पुस्तकें हैं, जिनके विचार हमारे जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की क्षमता

रखते हैं। शहरों में आज भी वासनोत्तजक साहित्य धड़ल्ले से बिकता है और गांवों में बाबा आदम के जमाने की पुस्तकें आज भी चलती हैं।

इस स्थिति को बदलने के लिए सरकार और जनता, दोनों को गम्भीरता से विचार करके ठोस कदम उठाने चाहिए। हम यह न भूलें कि जैसे हमारे विचार होंगे, वैसा ही हमारा जीवन होगा।

२३ / अन्तिम आकांक्षा

पहली सितम्बर को अपने जीवन के पिचहत्तर वर्ष पूरे करके छिहत्तरवें में प्रवेश किया है। पर एक क्षण को भी मुझे यह नहीं लगता कि मैं अपनी आयु का अधिकांश भाग जी चुका हूं। लेखन-कार्य १९३० के आसपास विद्यार्थी जीवन से ही आरम्भ किया था और १९३७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई पूरी करके नियमित रूप से लेखन-क्षेत्र में आ गया। तब से लेकर अबतक उपन्यास, कहानी, निबन्ध, रेखा-चित्र, रेडियो रूपक, कविताएं, गद्यगीत, जीवनियां, यात्रा-वृत्तान्त आदि जाने क्या-क्या लिखा, जिसमें से कुछ पुस्तकाकार में प्रकाशित हो गया है, कुछ विभिन्न पत्रों में छपकर रह गया है। इस बीच देश-विदेश में घूमा और कई यात्रा-पुस्तकें निकलीं। कुछ पुस्तकों के अनुवाद किये। सैकड़ों पुस्तकों का सम्पादन और संकलन किया, अनेक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लिया, लेकिन मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि इतने लम्बे अरसे में इतना काम कर चुका हूं कि अब

मुझे अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिए। मेरी सदा से धारणा रही है और इतने दिन के अनुभव से वह अब और भी पुष्ट हो गई है कि जबतक आदमी की सांस चलती है, उसे रसपूर्वक काम करते रहना चाहिए। जिस आदमी के अन्तर का रस सूख जाता है, उसका जीना अकारथ होता है, वह व्यक्ति मृतक के समान होता है, भले ही उनकी सांस का तार क्यों न जुड़ा रहे।

मेरी अनुभूतियां मुझे बताती हैं कि दुनिया में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसके जीवन में सुख और दुःख दोनों का समावेश न हो। जिस प्रकार किसी भी सुन्दर चित्र के लिए छाया और प्रकाश, दोनों का मेल आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के सौंदर्य के लिए सुख और दुख दोनों अनिवार्य हैं।

प्रश्न है कि सुख-दुःख मानव-जीवन में क्यों आते हैं ? उनका सृष्टा कौन है ? मैं मानता हूं कि दोनों का जनक मनुष्य स्वयं है। हम सब अपने मन में कुछ आशाएं और आकांक्षाएं रखते हैं। उनकी पूर्ति में सुख का अनुभव करते हैं, अपूर्ति से दुःख की अनुभूति होती है। आप आशा करते हैं कि अमुक व्यक्ति से आपको एक बड़ी रकम मिले। मिल गई तो आपका हृदय आनन्द से भर गया, नहीं मिली तो आप पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। मेरी प्रतीति है कि दुनिया का सारा खेल ही आदमी की आशा, आकांक्षाओं के सहारे चलता है।

दूसरी बात यह है कि आदमी के आनन्द अथवा रस की सबसे बड़ी शत्रु उसकी बुद्धि है। जिसकी बुद्धि हृदय-पक्ष पर हावी हो जाती है, वह न कभी स्वयं सुखी होता है, न दूसरों को सुखी होने देता है। मैं बुद्धि की महिमा का कायल हूं। उसके चमत्कार किसी से छिपे नहीं हैं। लेकिन जब और जहां बुद्धि ने हृदय को दबाया है, वहां इंसान का सुख मिट्टी हो गया है।

यह कहना तो सही नहीं होगा कि मैंने अपने को आकांक्षाओं से शून्य बना लिया है, लेकिन इतना मैं कह सकता हूं कि मैंने वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं से अपने को बचाने का बराबर प्रयत्न किया है। महत्वाकांक्षा यदि रखी है तो बस इतनी कि मेरे हाथों दूसरों का जितना हित हो सके, हो। मैं मानता हूं कि ऐसी आकांक्षा भी बहुत अच्छी नहीं है, क्योंकि दूसरों के हित-साधन की आकांक्षा में जाने-अनजाने मनुष्य अहंकार का शिकार हो जाता है। सूर्य गर्मी और प्रकाश देता है तो कभी सोचता नहीं कि किसी का उपकार कर रहा है। वह उसकी सहज क्रिया है, जो सहज भाव से उसका कल्याण करती है और साथ ही उसे कर्त्तापन के अभिमान से बचाती है। मनुष्य के लिए भी यही स्थिति सर्वथा अनुकरणीय है।

जब से देश स्वतंत्र हुआ है, हमारे मूल्य बड़ी तेजी से बदले हैं। वैसे तो एक युग कभी टिक कर नहीं रहता। बहुत कुछ है, जो बदल जाता है, लेकिन शाश्वत मूल्यों पर आंच आती है तो बात चिंतनीय हो उठती है। आजादी के बाद से देश का परिवेश ही नहीं बदला, देश की आत्मा में भी परिवर्तन हुआ है। समाज, साहित्य, संस्कृति, सबमें एक ऐसी भावना का प्रवेश हुआ है, जिसने मानवीय मूल्यों को चुनौती दी है। यातायात के साधनों में वृद्धि हो जाने के कारण बाहर की हवा खुलकर यहां आ रही है। उसकी तड़क-भड़क ने हमारे अभावों को उभार दिया है और हम आज पदार्थ के उपासक बन गए हैं। सार हाथ से निकल रहा है, छाया हमें लुभा रही है।

मूल्यों के इस परिवर्तन ने, कहिए, संकट ने, आज हमारे भविष्य के सामने एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगा दिया। राजनीति के मध्य में सत्ता प्रतिष्ठित हो गई है। सामाजिक जीवन में

अर्थ, वैयक्तिक जीवन में महत्वाकांक्षा, और आज हम चारों ओर से इन्हीं व्याधियों से घिरे हैं। सत्ता बुरी नहीं होती, अर्थ के बिना किसी का जीवन नहीं चलता और महत्वाकांक्षा जीवन में बढ़ने का हौसला देती है, लेकिन जब इनकी उपासना संकीर्ण स्वार्थ के लिए होती है तो इसका परिणाम विघातक होता है।

इस मूल्य-विपर्यय ने जो विषमता उत्पन्न की है, उसका सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ आता है। आखिर मनुष्य समाज की एक इकाई ही तो है और समाज में जो होता है, उससे वह अछूता कैसे रह सकता है? यही कारण है कि आज जो हो रहा है, उसका प्रभाव सब पर पड़ रहा है।

मेरी धारणा है कि हमारे हाथ में कितनी ही सत्ता क्यों न आ जाय, कितने ही ऊंचे पद पर हम क्यों न आसीन हो जायं, धन-धान्य से हमारा घर कितना ही क्यों न भर जाय, लेकिन यदि मानवीय मूल्यों पर हमारी आस्था नहीं है और मानव-हित को हम उचित महत्व नहीं देते तो हमारी ये उपलब्धियां व्यर्थ हैं, अभिशाप हैं।

आज मनुष्य का इन्सान नींद में है। उसे जगाने की आवश्यकता है। हम किसी भी क्षेत्र में काम करते हैं, हमें अब आगे इसी दिशा में प्रयत्न करना है। एक बार इन्सान जाग जायगा तो आज की बहुत-सी व्याधियां अपने आप समाप्त हो जायेंगी। सत्तात्मक राजनीति, पद-लोलुपता, स्वार्थ-परायणता, अर्थ-लिप्सा और स्वार्थ की लोक-व्यापी दूषित मनोवृत्ति मानवीय चेतना के उदय होते ही स्वस्थ दिशा में मुड़ जायगी।

अपने वैयक्तिक तथा साहित्यिक जीवन में मैंने सदा इस बात का प्रयत्न किया है कि मानव मानव के बीच की संकीर्ण

परिधियां टूटें और हर व्यक्ति अनुभव करे कि दूसरे के भी हृदय है, जो ठीक उसी प्रकार स्पंदित होता है, जैसे उसका अपना। छोटा और बड़ा, धनी और निर्धन, ऊंच और नीच, ये सारे भेद मनुष्य के बनाये हुए हैं और इन्हें बनाकर मनुष्य स्वयं उन बेड़ियों में जकड़ गया है। मूलतः सारे इन्सान एक से हैं। सबका जन्म एक समान होता है और मानवता मनुष्य मनुष्य के बीच किसी भी भेद को स्वीकार नहीं करती।

मेरे लिए यह बड़े संतोष की बात है कि मैं अपने चारों ओर प्रेम ही प्रेम पाता हूं। प्रेम से बढ़कर आखिर और है भी क्या? मानव और प्रकृति दोनों मेरे लिए प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं। इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर मैंने सारे देश की कई बार परिक्रमा की है और विश्व के लगभग बयालीस देशों में घूमा हूं। हिमालय मुझे बार-बार बुलाता है, सागर मुझे बार-बार आमंत्रित करता है। जबतक जीवित हूं, मानव और प्रकृति के साथ मेरा सान्निध्य निरंतर बना रहे, उनका आशीर्वाद मुझे मिलता रहे, यही मेरी आंतरिक कामना है।

२४ / उपसंहार

अपने संबंध में मैंने यह सब लिख तो दिया है, पर नहीं जानता, इसका उपयोग क्या होगा। मेरी तरह असंख्य भाई-बहन हैं, जो इस प्रकार के अनुभवों से गुजरते हैं। इस प्रकार का जीवन जीते हैं। फिर भी मेरी मान्यता है कि छोटे-से-छोटे व्यक्ति के जीवन में कुछ-न-कुछ ऐसा होता है, जो दूसरों को प्रेरणा दे सकता है। दतात्रेय ने अपने उन २४ गुरुओं के नाम

गिनाये हैं, जिनसे उन्होंने सीख ली थी। उनमें नाग, मत्स्य और कपोत तक थे। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति में सीखने की जिज्ञासा है तो सामान्य व्यक्ति से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। छोटों में भी गुण होते हैं और कभी-कभी तो वे गुण बड़ों के गुणों से भी बढ़कर होते हैं, किन्तु देखने में आता है कि बड़े गुण जहां स्थूल आंखों से दिखाई दे जाते हैं, वहां सामान्य व्यक्तियों के गुणों को देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है।

पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे इन पृष्ठों को पढ़ने की कृपा करें और यदि इनमें कहीं कुछ सार हो तो उसे ग्रहण कर लें और असार को छोड़ दें।

साथ ही एक प्रार्थना यह है कि यदि उन्हें कहीं ऐसा दिखाई दे कि मैंने अपने विषय में आवश्यकता से कुछ अधिक लिख दिया है तो क्षमा करें।

संसार में प्रेम से बढ़कर और क्या है! मैंने अबतक उसी की कामना की है और जीवन की अन्तिम घड़ी तक उसी की कामना करता रहूंगा।

सबको मेरे विनम्र प्रणाम।
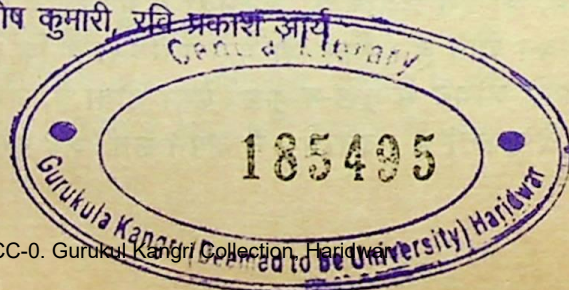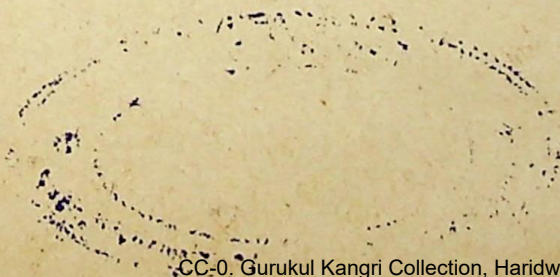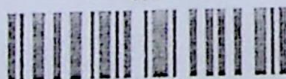
'मंडल' द्वारा प्रकाशित
आत्म-कथा और जीवनी साहित्य

- आत्म-कथा (सम्पूर्ण) गांधीजी
- आत्म-कथा (संक्षिप्त) गांधीजी
- राष्ट्रमाता कस्तूरबा
- मेरी जीवन-यात्रा
- कर्मवीर पं० सुन्दरलाल
- जीवन-प्रभात
- गांधी: एक जीवनी
- इन्दु से प्रधानमंत्री
- मेरा जीवन प्रवाह
- मेरी जीवन धारा